विश्व शांति एवं अहिंसा प्रशिक्षण

डॉ. बच्छराज दूगड
अध्यक्ष,
अहिंसा एवं शांति-शोध विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं।

आचार्य शांतिसागर छाणी ग्रंथमाला
बुढ़ाना (उत्तरप्रदेश)

—— प्रेरणा स्त्रोत ——

परम पूज्य उपाध्याय

श्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज

श्री माँगीलाल कमलकुमार पाटोदी
साडम (बोकारो) बिहार

प्रस्तुति

मनुष्य की चिर-प्रतीक्षित आकांक्षा है—शांति, जो उसके अस्तित्व, विकास एवं प्रगति के लिए भी आवश्यक है। "जिस तरह युद्ध मानव-मस्तिष्क में जन्म लेते हैं शांति भी मानव मस्तिष्क से ही जन्म लेगी।" युनेस्को की उपर्युक्त घोषणा यह स्पष्ट करती है कि हिंसा के प्रति प्रतिबद्धता घनी मारकाट, आणविक सर्वनाश, मानवीय एवं भौतिक संसाधनों का भारी अपव्यय, विषमतावादी अर्थव्यवस्था, मानवाधिकारों का उल्लंघन, हिंसक प्रतिशोध, हिंसा-प्रधान विज्ञान और प्रौद्योगिकी, विप्लव, गृह-युद्ध, युद्ध, उपनिवेशवादी परम्पराओं आदि को तो जन्म दे सकती है पर शांति को नहीं। "जिस जाति ने युद्ध का अविष्कार किया वहीं शांति का अविष्कार करने में सक्षम है।" सेबाइल घोषणा-पत्र का यह अंतिम वाक्य आत्मविश्लेषण को इंगित करता हुआ यह कहता है—अब वह समय आ गया है जब हमें अहिंसा सार्वभौम रूपान्तरण की हमारी युगों पुरानी कल्पना को साकार रूप देने के प्रयत्नों को और भी गति देनी होगी तथा इसका प्रारम्भ स्वयं से करना होगा।

कलह, वर्ग-संघर्ष, उग्रवाद, शस्त्रीकरण, सत्ता और संपत्ति का असमान वितरण—ये सब हिंसा के स्फुलिंग होते हुए भी हिंसा के कारणों के रूप में इन्हें जिम्मेदार ठहराना सतही चिंतन होगा। मूल रूप से असीमित इच्छाएं, क्रोध, भय, घृणा, क्रूरता, मिथ्याभिमान, संग्रहवृत्ति आदि मानवीय संवेग ही हिंसा के लिए उत्तरदायी हैं। अनेकांतिक चिंतन, सापेक्ष दृष्टिकोण, सह-अस्तित्व, सहिष्णुता, जीवन के प्रति सम्मान, विसर्जन, साधन-शुद्धि—ये सब अहिंसा के स्फुलिंग हैं। इनके प्रशिक्षण और प्रयोग से शांति की अखण्ड लौ प्रज्वलित की जा सकती है।

वर्तमान में एक ओर अहिंसा एवं विश्वशांति की केवल चर्चा हो रही है, दूसरी ओर हिंसा की चर्चा ही नहीं, प्रयोग और प्रशिक्षण भी चल रहा है। एक ओर मानवाधिकारों की बात की जा रही है, दूसरी ओर एक मानव को मारना तिनके को तोड़ने जैसा हो गया है। एक ओर विकास शिखर को छू रहा है, दूसरी ओर आणविक विनाश की काली छाया मंडरा रही है। एक ओर आधुनिकतम तकनीकें विकसित हो रही हैं, दूसरी ओर पर्यावरण प्रदूषण बढ़ रहा है। एक ओर भौतिक सुख—सुविधाएं बढ़ रही हैं, दूसरी ओर ओजोन की छतरी का छेद चौड़ा होता जा रहा है। ये कुछ ऐसे विरोधाभास हैं, जो

अहिंसा के लिए चुनौती बने हुए हैं, मानव और विश्वशांति के लिए खतरा बने हुए हैं।

प्रस्तुत कृति में न केवल इन समस्याओं का स्पर्श है अपितु इन समस्याओं के समाधान खोजने का एक विनम्र प्रयास भी है। शिक्षा के क्षेत्र में यदि "अहिंसा–प्रशिक्षण" को प्रारम्भ से ही अनिवार्य किया जाए, हृदय–परिवर्तन की प्रयोग पद्धति का अभ्यास चले तो अहिंसा एवं विश्वशांति की प्रतिष्ठा का एक सशक्त अभिक्रम आकार ले सकता है।

जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) जिसने अहिंसा–शिक्षण–प्रशिक्षण का एक प्रभावी विकल्प विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया है, वह मेरी कर्मभूमि भी है। अनुशास्ता गुरुदेव तुलसी व आचार्य महाप्रज्ञ का दिशा–दर्शन मुझे सदा सहज उपलब्ध रहा है जो मेरी गति का संबल है। आपके निर्देशन में चल रहे अहिंसा–प्रशिक्षण के उपक्रम ने विश्वशांति के संदर्भ में नई संभावनाओं को जन्म दिया है जिसकी प्रतिध्वनि इस कृति में भी उपलब्ध है।

उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज का अबाधित और अनायास उपलब्ध स्नेह एवं आशीर्वाद मेरे जीवन का अविस्मरणीय संस्करण है। आपके विद्यानुराग ने ही प्रस्तुत कृति को यथार्थता प्रदान की है तथा मेरी लेखनी को और अधिक संबल प्रदान किया है।

जैन विश्व भारती संस्थान के कुलपति श्री मोहनसिंह भण्डारी ने भूमिका लिखकर मेरे उत्साह और पुस्तक की सार्थकता को और अधिक वृद्धिंगत किया है।

प्रो० नलिन शास्त्री मेरे अग्रज ही हैं। उन्होंने न केवल लेखन के लिए प्रोत्साहित किया अपितु लेखक–मन निर्बाध गति से विचरण करता रहे, इसका भी सदैव ध्यान रखा है। उनकी यह प्रमोद भावना सचमुच श्लाघ्य ही नहीं अनुकरणीय भी है।

अहिंसा एवं विश्वशांति में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए भी यह पुस्तक किंचित् भी उपयोगी बन सकी तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूंगा।

रक्षा बन्धन, 95 — *–डॉ० बच्छराज दूगड़*

जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं-341306

अहिंसा की अथाह शक्ति को हमारे पूर्वजों ने, दार्शनिक-धर्माचार्यो ने, बडी मार्मिकता से समझा और अपनाया था। सर्व-ज्ञानी महावीर और गौतम बुद्ध, अहिंसा के महान् प्रवर्त्तक थे। वर्त्तमान युग में महात्मा गांधी ने इस भूली हुई शक्ति को फिर से जगाया। मार्टिन लूथर किंग ने अपनी पुस्तक Stride Towards Freedom (1959) में लिखा है— "The intellectual and moral satisfaction that I failed to gain from the utilitarianism of Bentham and Mill, the revolutionary methods of Marx and Lenin, the special contract theory of Hobbes, the 'book to nature optimism' of Rouseeau and the Superman philosophy of Nietzschey, I found in the noniviolent resistance philosophy of Gandhi."

लगता है कि गांधीजी के पश्चात् हिरोशिमा में हुए हिंसा के ताण्डव-नृत्य के बावजूद, पिछले पांच दशकों में हिंसा की सामग्री, हथियारों की होड और शीत युद्ध की अनिश्चित भयभीत दशा, अधिक उग्र हुई है।

असंयमित तकनीकी विकास ने गरीब और धनी के बीच की खाई को और अधिक चौड़ा किया है, मानवीय मूल्यों का ध्वंस किया है एवं विश्व को आज एक ऐसी चोटी पर ला खड़ा किया है जहां से गिरते ही सर्वनाश हो सकता है। विज्ञान की एक सीमा है, इन्द्रियों एवं तर्क की भी एक सीमा है। उस सीमा के आगे जो तथ्य है, वह विज्ञान से परे है, अहिंसात्मक है। जब तक हम इस सत्य को नहीं समझ लेते, शान्ति और सुख की उपलब्धि सम्भव नहीं है। विज्ञान के साथ धर्म को जोड़ना होगा। आइन्स्टीन ने कहा-- "विज्ञान बिना धर्म के लंगडा है और धर्म बिना विज्ञान के अन्धा है।" अहिंसा सर्व-धर्मो का सार है।

जो देश हिंसक शस्त्रों का निर्माण और संचय करते हैं, यही कहते हैं– हथियार विश्व-शान्ति के लिए आवश्यक है, युद्ध-निराकरण के लिए जरूरी है। जो आतंकवादी निरपराध का निरंकुश संहार करते हैं और अपने जीवन पर खेलकर भी सामाजिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करते हैं, यही सोचते हैं कि वे अपनी जाति की प्रगति और शान्ति के लिए लड़ रहे हैं। जो धर्म की रक्षा के लिए अन्य धर्मों पर प्रहार करते हैं, यही मानते हैं कि वे नैतिकता की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं। कितना अज्ञान और कितनी भ्रान्ति? बर्बरता से मानवता नहीं पनप सकती। अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए दूसरों के अधिकारों को नहीं छीना जा सकता। किसी भी समस्या के

समाधान में हिंसा का प्रयोग, ऐसी अन्य समस्याओं को जन्म देता है, जो पहले से अधिक भयंकर होती हैं। इतिहास इसका साक्षी है। समाज व्यक्ति से ऊपर है। मानवता देश-प्रेम से बढकर है। मैत्री बिना त्याग के सम्भव नहीं है। सह-अस्तित्व के लिए सहनशीलता अवश्यंभावी है। अनेकान्त का सापेक्ष दृष्टिकोण अपनाना होगा। बल प्रयोग से न केवल निर्बल, बल्कि शक्तिवान भी नष्ट हो जायेंगे। मानवाधिकार प्राप्त करने के लिए, सब प्राणियों का सम्मान करना होगा। कानून और दण्ड के आधार पर अपराधी को समाप्त किया जा सकता है, पर अपराध को नहीं। अहिंसा के प्रयोग द्वारा उनका हृदय-परिवर्तन करना होगा। आर्थिक समस्याओ के समाधान के लिए और सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए विसर्जन उतना ही आवश्यक है जितना अर्जन। जब तक भौतिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय नहीं होगा, शरीर, मन और चित्त का संतुलन नहीं होगा, विज्ञान का सारा विकास निरर्थक है। जब तक अहिंसा का सही अर्थ समझ में नहीं आयेगा, अहिसा की अपार शक्ति का प्रयोग नहीं होगा, विश्व-शान्ति स्थापित करने में, सामाजिक न्याय दिलवाने में और वैयक्तिक आनन्द प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकते।

डॉ० बच्छराज दूगड की इस कृति में ऐसे अनेक विचारों का सुन्दर विवरण दिया गया है। अहिंसा की शिक्षा और उसके प्रयोग पर अधिकाधिक साहित्य की आवश्यकता है। आशा है इस प्रकाशन से इस महत्वपूर्ण क्षेत्र में एक और कडी जुडेगी।

डॉ० दूगड़ जैन विश्व भारती संस्थान में लम्बे समय से अहिंसा व शान्ति शोध विभाग में एक प्रभावशाली व्याख्याता की भूमिका निभा रहे हैं। यह प्रयास उनके गहन अध्ययन और श्रम का फल है।

मेरी कामना है कि अहिंसा और शान्ति शोध की शिक्षा देश-विदेश के प्रत्येक विश्वविद्यालय में प्रारम्भ की जाये। सम्भवतः इससे शिक्षा में चरित्र निर्माण का जो अभाव है, उसकी पूर्ति हो सके तथा शिक्षा विश्व-शान्ति और मैत्री स्थापित करने में सहायक सार्थक हो सके।

दीपावली, 95

—मोहन सिंह भण्डारी
कुलपति, जैन विश्व भारती संस्थान
मान्य विश्वविद्यालय
लाडनूं–341306 (भारत)

विषय-सूची

☐ अहिंसा-प्रशिक्षण के सूत्र :

☐ पर्यावरण एवं निशस्त्रीकरण :

संघर्ष
एवं
संघर्ष निराकरण

संघर्ष एवं संघर्ष निराकरण

संघर्ष मानव सम्बन्धों में सतत रहने वाली एक प्रक्रिया है। जब व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सहयोग नहीं होता अथवा जब वे एक दूसरे के प्रति तटस्थ भी नहीं रहते, तो संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो ही जाती है। संघर्ष को समाज में अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जब सीमित लक्ष्यों को अनेक व्यक्ति प्राप्त करना चाहें तो संघर्ष स्वाभाविक ही है।

Conflict शब्द लेटिन भाषा के Con+fligo से मिलकर बना है। Con का अर्थ है together तथा Fligo का अर्थ है—To Strike. अतः संघर्ष का अर्थ है—लडना, प्रभुत्व के लिए संघर्ष करना, विरोध करना, किसी पर काबू पाना आदि। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार—दो वर्गों में या समूहों के बीच सशस्त्र प्रतिरोध, लड़ाई या युद्ध संघर्ष है। विपरीत सिद्धान्तों, कथनों, तर्कों आदि से विरोध भी संघर्ष है तथा विचारों, मतों और पसन्द के बीच असामंजस्यपूर्ण व्यवहार भी संघर्ष है।

गिलीन एव गिलीन के अनुसार—संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति अथवा समूह अपने उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए विरोधी के प्रति प्रत्यक्ष हिंसा या हिंसा की धमकी का प्रयोग करते हैं। अर्थात् किसी साध्य प्राप्ति हेतु किये जाने वाले संघर्ष की प्रकृति में ही विरोधी के प्रति घृणा और हिंसा की भावना विद्यमान होती है। प्रो० ग्रीन के अनुसार—"संघर्ष जानबूझकर किया गया वह प्रयत्न है, जो किसी की इच्छा का विरोध करने, उसके आड़े आने अथवा उसे दबाने के लिए किया जाता है।" अर्थात् ग्रीन महोदय ने हिंसा व आक्रमण के साथ उत्पीड़न को भी संघर्ष का एक प्रमुख तत्त्व स्वीकार किया है। किंग्सले डेविस ने प्रतिस्पर्धा को ही संघर्ष माना है। उनके अनुसार प्रतिस्पर्धा व संघर्ष में केवल मात्रा का ही अन्तर है।

क्या संघर्ष आवश्यक है?

मूलतः यदि देखा जाए तो संघर्ष परिवर्तन का एक साधन है। परिवर्तन

की आवश्यकता और इच्छा को झुठलाया नहीं जा सकता और हमें यह भी स्वीकार करना ही होगा कि परिवर्तन के साधनों से ही परिवर्तन होगा। अतएव हमें संघर्ष को सदैव हिंसक रूप में ही न देखकर उसे परिवर्तन के संदर्भ में भी देखना चाहिए। यह धारणा या विचार मिथ्या है कि "संघर्ष नैतिक रूप से गलत व सामाजिक रूप से अनचाहा है। संघर्ष सदैव त्याज्य या विध्वंसात्मक ही नहीं होता, यह समूहों के बीच तनाव को समाप्त भी करता है, जिज्ञासाओं व रूचियों को प्रेरित करता है तथा यह एक ऐसा माध्यम भी हो सकता है जिसके द्वारा समस्याएं उभारकर उनके समाधान तक पहुंचा जा सकता है अर्थात् यह व्यक्तिगत और सामाजिक परिवर्तन का आधार भी हो सकता है। संघर्ष का अनिवार्यतः यह अर्थ नहीं है कि यह समुदाय व सम्बन्धों के टूटने का कारण है। कोजर ने सामाजिक संघर्षों की महत्ता को प्रकाशित करते हुए लिखा है—संघर्ष असन्तुष्टि के स्रोतों को खत्म कर तथा परिवर्तन की आवश्यकता की पूर्व चेतावनी तथा नवीन सिद्धान्तों का परिचय देकर समुदाय पर एक स्थिर एवं प्रभावशाली छाप छोड़ता है।

अतः संघर्ष की दो स्थितियां हैं—

1. न्यायोचित लक्ष्य के लिए प्रतिस्पर्धा में शामिल होना एवं

2. ऐसा लक्ष्य जो न्यायोचित नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिए प्रतिस्पर्धा में शामिल होना।

प्रथम यथार्थवादी संघर्ष एक विशेष परिणाम की प्राप्ति के लिए होता है, इसलिए यह संघर्ष या तो मूल्यों की संरक्षा के लिए या उन जीवनदायिनी चीजों के लिए होता है जिनकी आपूर्ति कम होती है।

उपर्युक्त अर्थ में संघर्ष कुछ परिणाम की प्राप्ति का साधन है। समाजशास्त्रियों का मानना है—संघर्ष विहीन समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मेक्स वेबर के अनुसार—"सामाजिक जीवन से हम संघर्ष को अलग नहीं कर सकते। हम जिसे शांति कहते हैं वह और कुछ नहीं है अपितु संघर्ष के प्रकार व उद्देश्यों तथा विरोधी में परिवर्तन है।" रोबिन विलियम्स के अनुसार—किसी भी परिस्थिति में हिंसा या संघर्ष पूर्ण रूप से उपस्थित या अनुपस्थित नहीं हो सकता। यहां भगवान महावीर की दृष्टि ज्ञातव्य है—उनके अनुसार समाज केवल हिंसा या केवल अहिंसा के आधार पर नहीं चल सकता। प्रो० महेन्द्र कुमार के अनुसार—हिंसा की पूर्ण अनुपस्थिति असम्भव

है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय समाज से संघर्ष का पूर्ण विलोपन सम्भव नहीं है और न ही यह वांछनीय है क्योंकि हिंसा की अहिंसक-समाज निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका है या हो सकती है। अतएव संघर्ष को नियन्त्रित या इच्छित दिशा में गतिशील किया जा सकता है, उसे पूर्ण रूप से हटाया नहीं जा सकता।

महात्मा गांधी ने भी संघर्ष की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। जे०डी० टाटा ने जब गांधीजी से यह पूछा—बापू ! आप तमाम उम्र संघर्ष करते रहे हैं (ब्रिटिश लोगों से), उनके चले जाने के बाद आपकी संघर्ष की आदत का क्या होगा? क्या आप इसे छोड़ देंगे? गांधीजी का उत्तर था—नहीं मैं इसे अपने जीवन से कभी अलग नहीं कर सकता। लेकिन गांधीजी ने कार्लमार्क्स की तरह संघर्ष को सामाजिक कानून के रूप मे नहीं माना। उन्होंने संघर्ष की अहिंसक पद्धति विकसित करने पर बल दिया।

विध्वंसात्मक बनाम उत्पादक संघर्ष

संघर्ष विध्वंसात्मक भी हो सकता है और उत्पादक भी। एक संघर्ष को उस समय विध्वंसात्मक कहा जा सकता है जब इस संघर्ष में सहभागी व्यक्ति इसके परिणामो से असन्तुष्ट हों तथा वे यह अनुभव करते हों कि संघर्ष के परिणामस्वरूप उन्होंने कुछ खोया है। यही उत्पादक होगा, जब संघर्ष में सहभागी व्यक्ति इसके परिणामों से सन्तुष्ट हों तथा वे यह अनुभव करते हों कि संघर्ष के परिणामस्वरूप उन्होंने कुछ प्राप्त किया है।

दृष्टिकोण, व्यवहार और संघर्ष

विध्वंसात्मक दृष्टिकोण और व्यवहार को संघर्ष के समकक्ष या संघर्ष मानना भ्रामक है। तीनों का स्वतंत्र अस्तित्व है। संघर्ष एक प्रकार से विरोध व एक ऐसा लक्ष्य है जो दूसरे की लक्ष्य प्राप्ति में बाधक है। सामान्य रूप से संघर्ष के दो रूप हैं—

1. समाज के विभिन्न समूहों की वस्तुनिष्ठ रूचियों में भेद एवं
2. सामाजिक गतिविधियों के आत्मनिष्ठ लक्ष्यों में विरोध।

दृष्टिकोण व व्यवहार जब संघर्ष से जुड़ जाते हैं तब उन्हें निषेधात्मक दृष्टिकोण व व्यवहार कहा जाता है। इस प्रकार के निषेध अचानक घृणा या प्रत्यक्ष हिंसा के रूप में प्रकट होते हैं। जातीय और प्रजातीय संघर्षों में सामाजिक दूरी पूर्वाग्रहों के कारण होती है जबकि संरचनात्मक हिंसा में यह भेदभाव के रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार संघर्ष का जो स्वरूप उभरता है, उसे

हम इस प्रकार दर्शा सकते हैं—

अभिवृत्ति व्यवहार

घृणा सामाजिक दूरी प्रत्यक्ष हिंसा संरचनात्मक हिंसा

विरोधी हिंसा
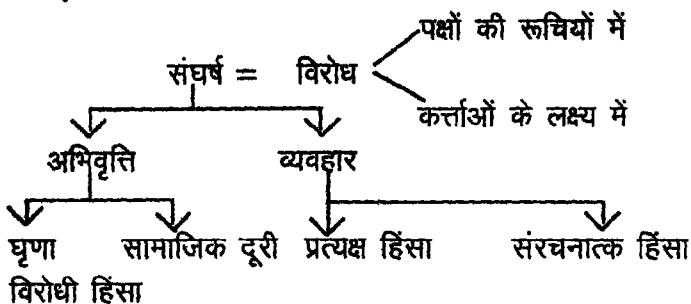
सम्बन्ध न होने की अपेक्षा संघर्षपूर्ण सम्बन्ध उत्तम है

प्रसिद्ध उक्ति है—'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।' अन्याय से घृणा या विरोध आवश्यक है क्योंकि यह अन्याय के संस्थाकरण को रोकता है लेकिन अन्यायी से घृणा सम्बन्धों के सुधार को रोकता है। इसी सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है—संघर्ष पर आधारित सम्बन्ध किसी प्रकार के सम्बन्ध न होने से अच्छे हैं। मेरे और आपके बीच संघर्ष यह दर्शाता है कि कोई एक चीज हम दोनों में सामान्य है। हमारी समस्या मेरी और आपकी है। इसलिए हम इस समस्या से लड़ें न कि एक दूसरे से। संघर्ष के सावधानीपूर्ण प्रयोग से समाज में सांमजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते है। इस निष्कर्ष पर पहुंचने के दो आधार हैं—

1. मानवीय एकता
2. कर्त्ता बनाम व्यवस्था

प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे से अनेक बन्धनों व सामाजिक सम्बन्धों से जुड़े हैं। यदि उनके बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध है तो वे उसे प्रदर्शित कर उन्हें और आगे बढ़ा सकते हैं और यदि उनके बीच सामंजस्य नहीं है तो हम उन्हें यह समझा सकते हैं कि यह मानवीय एकता के लिए आवश्यक है। और यदि उनके बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध नहीं हैं, तो यह मानवीय एकता का बहिष्कार है।

किसी व्यक्ति के अन्यायी बनने में परिस्थितियों व व्यवस्था का भी योगदान होता है। सम्बन्धों को स्वीकार न करना अन्यायी की अस्वीकृति है जबकि असामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों का स्वीकरण व्यवस्था व व्यक्ति सुधार की दिशा में प्रस्थान है।

संघर्ष का आधार

संघर्ष का मूल कारण व्यक्ति की अनन्त इच्छाएं या लोभ की प्रवृत्ति है। जैन दर्शनानुसार इच्छा विस्तार समस्त बुराईयों की जड़ है। इच्छाओं की पूर्ति हेतु दूसरों का शोषण होगा। अर्जित पदार्थों के संरक्षण हेतु शस्त्रीकरण होगा जो अन्ततः युद्ध या हिंसा को जन्म देगा। सुकरात ने भी कहा था– लोग सरल जीवन पद्धति से सन्तुष्ट नहीं होंगे, वे अपनी इच्छाओं का विस्तार चाहेंगे .... दूसरे भी ऐसा ही चाहेंगे .... परिणाम होगा–युद्ध।

मूलतः संघर्ष तब होता है जब इच्छा पूर्ति हेतु विरोधी क्रियाएं घटित होती हैं। जब दो व्यक्ति वह कार्य करना चाहें जो परस्पर असंगत है तो तनाव स्वाभाविक है क्योंकि इससे व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्रो की इच्छा पूर्ति में बाधा उत्पन्न होती है। समग्र इच्छाओं की पूर्ति के प्रयत्न तो दूसरों की अतृप्ति की कीमत पर ही किये जा सकते है। सामान्य रूप से संघर्ष के तीन आधार वर्णित किये जा सकते है–

1. एक या अधिक पक्ष
2. पक्षो के बीच सम्बन्ध
3. वह व्यवस्था या तंत्र जिसमें ये पक्ष कार्य करते हैं।

अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धो मे संघर्षो के मुख्य कारण वर्गों के बीच तनाव, नृजातीय स्थितियों तथा सांस्कृतिक प्रारूपों की भिन्नता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षो मे व्यक्तियो का राष्ट्रीय चरित्र व राजनैतिक ढांचा मुख्य कारण बनते हैं।

विभिन्न पक्षो के बीच सम्बन्ध यदि असमानताओं पर आधारित हों, जैसे– राजनैतिक शक्ति मे असमानता, सम्पत्ति का असमान वितरण, विरोधी धर्म और वैचारिक परम्पराए, मूल्यो की भिन्नता आदि, तो ये भी संघर्ष के मुख्य कारण बनते हैं।

जिस व्यवस्था मे विभिन्न पक्ष कार्य करते हैं, उसमें खुली राजनैतिक एवं स्वतंत्र न्यायायिक व्यवस्था अपेक्षित है। ऐसी व्यवस्था मतभेदों को दूर करने के साधन उपलब्ध करवा सकती है तथा असमानता एवं मूल्य सम्बन्धी भेदों को और अधिक गहरा होने से बचा जा सकता है तथा इस तरह संघर्ष के संस्थाकरण को रोका जा सकता है।

व्यवस्था के विभिन्न पक्षों में एकता परस्पर निर्भरता के स्तर, संगति एवं

समानता पर निर्भर करती है। जितनी अधिक एकता होगी, असन्तुष्टि उतनी ही कम होगी तथा संघर्ष भी कम होंगे। परस्पर निर्भरता के अभाव में एकता का भी अभाव होगा तथा असन्तुष्टि एवं संघर्ष अधिक होंगे।

व्यवस्था के आन्तरिक कारक जैसे— वैचारिक भिन्नताएं, आर्थिक विषमता, नौकरशाही आदि भी संघर्ष के लिए आधार बनते हैं।

संघर्ष के प्रकार

प्रो० सिम्मेल (Simmel) ने संघर्ष को चार प्रकारों में विभाजित किया है–

1. युद्ध (War)
2. पुश्तैनी कलह (Feud or Factional strife)
3. मुकदमे बाजी ((Ligitation)
4. मत वैभिन्य का संघर्ष (Conflict of impersonal ideas)

प्रो० गिलीन एवं गिलीन ने संघर्ष के पांच प्रकारों की व्याख्या की है–

1. व्यक्तिगत संघर्ष– (Individual conflict)

परस्पर विरोधी लक्ष्यों को लेकर दो व्यक्तियों के बीच होने वाले संघर्ष को व्यक्तिगत संघर्ष कहा जा सकता है। संघर्षशील लोगों में व्यक्तिगत घृणा, द्वेष, क्रोध, शत्रुता आदि होती है तथा स्वयं के हितों के लिए दूसरे को शारीरिक हानि पहुंचाने अथवा नष्ट तक कर देने की तत्परता होती है।

व्यक्तिगत संघर्ष आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के होते हैं। आन्तरिक कारकों में व्यक्ति की कुण्ठा, स्वार्थवृत्ति तथा रूचियों की प्राथमिकता के निर्धारण का प्रश्न प्रमुख कारण होते हैं। बाह्य कारकों में व्यक्तियों की रूचियों में टकराहट ही प्रमुख रूप से कारण बनता है।

2. प्रजातीय संघर्ष (Racial conflict)

कभी–कभी कुछ प्रजातियां दूसरों पर शासन करना अपना अधिकार मान्ती हैं जिसके परिणाम स्वरूप अन्य प्रजातियों से उनका संघर्ष हो जाता है। अमेरिका में नीग्रो और श्वेत प्रजाति, श्वेत और जापानी प्रजाति तथा अफ्रीका में श्वेत और काली प्रजाति के बीच हिंसात्मक घटनाएं होती रही हैं। प्रजातीय श्रेष्ठता या हीनता इस प्रकार के संघर्ष का प्रमुख कारण बनती है।

प्रगति के बावजूद प्रजातीय भेदभाव–राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक,

सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में कानून के रूप में तथा व्यवहार में जातीय भेदभाव के रूप में विद्यमान है। प्रजातीय भेदभाव--भेदभाव करने वाले तथा उससे प्रभावित दोनों ही पक्ष के लिए हानिकारक है।

प्रजातीय भेदभाव के अनेक रूप हैं। कहीं पर यह सरकारी नीतियों से सपुष्ट है तो कहीं प्रच्छन्न रूप में, जिससे विभिन्न वर्गों के बीच विषमता पाई जाती है। राजनैतिक क्षेत्र में विश्व के किसी भी देश में प्रजातीय भेदभाव को मान्यता नहीं है परन्तु कुछ राष्ट्रों में वहां की नीतियों एवं परिस्थितियों के कारण सभी लोगों को मत देने, सरकारी सेवा में प्रवेश पाने एवं सार्वजनिक पदों के लिए चुनाव लड़ने का अधिकार नहीं है। आर्थिक क्षेत्र में प्रजातीय भेदभाव के परिणाम स्वरूप कुछ विशेष प्रजाति के लोग कम वेतन पर मजदूर के रूप में सदैव उपलब्ध रहते हैं। प्रजातीय भेदभाव सार्वजनिक स्थान, स्वास्थ्य तथा चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओ, सामाजिक सुरक्षा एवं पारस्परिक सम्बन्धों में भी देखा जा सकता है। सांस्कृतिक क्षेत्र में जातीय भेद-भाव जीवन-स्तर की विभिन्नता से जन्म लेता है।

भेदभाव की यह भावना उन समाजों में अधिक पाई जाती है जहां सांस्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में बहुत अधिक विरोधाभास होता है। नस्ल, रंग तथा वंश की दृष्टि से जिन राष्ट्रों में अलगाव की भावना है एवं जहां संस्कृति, रीति-रिवाज एवं परम्पराओं के कारण भिन्नताएं हैं, वहां की स्थितियां वास्तव में ही सोचनीय हैं। जातीय पृथक्करण की नीतियां विश्व के लिए एक बड़ा कलंक है।

3. वर्ग-संघर्ष (Class Conflict)

वर्ग संघर्ष का इतिहास मानव जाति का इतिहास है। प्राचीनकाल में मालिक व दास, मध्ययुग में सामन्त व सेवक तथा कामदार, आधुनिक युग में मजदूर व पूंजीपति आदि वर्ग रहे हैं, क्योंकि विभिन्न समूहों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में परस्पर भिन्नताएं पाई जाती हैं, फलतः उनके जीवन प्रतिमान एक-दूसरे से मेल नहीं खाते और ये समूह कालान्तर में विभिन्न वर्गों का रूप ले लेते हैं। प्रत्येक वर्ग सामाजिक एवं आर्थिक उपयोगिता की दृष्टि से स्वयं को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। इस प्रकार की स्थिति उनके बीच विवादों व संघर्ष को जन्म देती है। श्रमिक व पूंजीपति, जमींदार व कृषक, उच्च व निम्न आदि वर्ग इसके उदाहरण हैं। वर्ग संघर्ष विश्व के सभी समाजों

में पाया जाता है। कार्लमार्क्स ने कहा था–"समाज सदैव दो आर्थिक वर्गों में बंटा रहेगा–शोषक व शोषित। ये वर्ग सदैव एक-दूसरे के साथ संघर्षरत रहेंगे जब तक कि वर्ग-विहीन समाज की स्थापना न हो जाय।"

4. जातीय संघर्ष (Caste Conflict)

जातीय संकीर्णता आज सामाजिक संघर्षों का एक प्रमुख कारण बनी है। हम कुछ जातीय पूर्वाग्रहों का पालन करते हैं क्योंकि इनसे हमें सुरक्षा, प्रतिष्ठा तथा मान्यता जैसी कतिपय गहन आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है। यद्यपि कानूनी रूप से विभिन्न जातियों के बीच ऊंच-नीच की भावना को स्वीकार नहीं किया गया है फिर भी ऊंच-नीच की भावना के कारण विभिन्न जातियों में बैर-भाव रहता है तथा जातीय संघर्ष चलते रहते हैं। भारत में जातीय तनाव अधिक देखने को मिलता है। जैसे मणिपुर में नागा व कुकी जाति का विवाद, बिहार में लाला व ब्राह्मण जाति का विवाद आदि-आदि। इन जातीय विवादों के कारण आज भारतीय राजनीति का मुख्य आधार ही जातिवाद बन गया है, जिससे सामान्य जनता सदैव आपसी संघर्षो में उलझी रहती है।

5. राजनैतिक संघर्ष (Political Conflict)

राजनैतिक संघर्षों के दो रूप हैं– राष्ट्रीय संघर्ष एवं अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष। जातिवाद, साम्प्रदायिक तनाव, राजनैतिक तनाव, उग्रवाद, पृथक्करण, विभाजन आदि राष्ट्रीय संघर्षों के प्रमुख कारण बनते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष की अभिव्यक्ति के भी अनेक रूप हैं, जैसे घृणा तथा आक्रामकता की अभिवृत्ति, जिसके फलस्वरूप समाचार पत्रों, रेडियो व दूरदर्शन पर भड़कीले समाचार प्रसारित कर मनोवैज्ञानिक युद्ध किया जाता है। स्वजातिवाद की पृष्ठभूमि भी अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का एक प्रमुख कारण है। अडोर्नो ने यह दर्शाया है– जिन व्यक्तियों में यह सोचने की अतिरंजित प्रवृत्ति है कि उनका अपना समूह अथवा जाति अन्य जातियों से अत्यन्त श्रेष्ठ है, उनका सामान्य दृष्टिकोण रुढ़िवादी होता है तथा वे शक्ति की प्रशंसा व पराजितों से घृणा करते हैं जिससे वे दूसरों को अपने समान स्थान देने को तैयार नहीं होते। फलतः विदेशियों व अल्पसंख्यकों को हीन दृष्टि से देखा जाता है तथा उनमें असुरक्षा की भावना उत्पन्न होती है। इससे सैनिक संगठनों को बल मिलता है। राष्ट्रवादी अभिवृत्तियों के साथ-साथ अन्य देशों के प्रति प्रबल नकारात्मक भावना हो

और प्रबल अन्तर्राष्ट्रीय भावना का अभाव हो तो उस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न हो ही जाता है और वह स्थिति शांति तथा एकता की बजाय युद्ध की प्रेरक होती है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त वैचारिक भिन्नताएं, विस्तारवादी नीतियां, व्यापारिक एवं सीमा-विवाद, अस्त्र-शस्त्र आदि भी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के प्रमुख कारण बनते हैं।

संघर्ष की प्रक्रिया

कुण्ठा, अन्याय, आक्रामकता व परमाणु अस्त्र-शस्त्रों का निरन्तर भय, संघर्ष के लिए जिम्मेदार कहे जा सकते हैं।

कुण्ठा—फ्रायड ने व्यक्ति के अन्दर एक ऐसी अचेतन शक्ति की परिकल्पना की है जिसके कारण वह युद्ध का स्वागत करता है। फ्रायड का मत है कि निराशा के कारण मनुष्य एक ऐसे अवरुद्ध आक्रमण के लिए प्रेरित होता है जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक ऐसा मार्ग ढूंढ़ने का प्रयत्न करता है जो सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत हो और उसके अहं को भी स्वीकार्य हो।

सामान्य रूप में निराशा को उत्पन्न करने वाली तीन मुख्य स्थितियां हैं—

1. प्रतिकूल वातावरण द्वारा प्रस्तुत बाह्य बाधाएं, जो व्यक्ति को अपने लक्ष्य प्राप्ति से रोकती हैं।

2. मनुष्य के पराहं द्वारा प्रस्तुत आन्तरिक बाधाएं जो उसकी अस्वीकार्य प्रवृत्तियों की उन्मुक्त अभिव्यक्ति को रोकती है, तथा

3. दो पारस्परिक विशिष्ट प्रवृत्तियों का एक साथ उत्प्रेरण, जहां पर एक व्यक्ति की संतुष्टि से दूसरे व्यक्ति के तात्कालिक संतोष में बाधा पड़ती है।

उपर्युक्त तीनों ही स्थितियां व्यक्ति की कुण्ठा के लिए जिम्मेदार हैं जो अनन्तः संघर्ष को जन्म देती है।

अन्याय—सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में किया जाने वाला अन्याय भी संघर्ष की प्रक्रिया को जन्म देता है। अन्याय की निरन्तरता प्रतिशोध व विवादों को जन्म देती है तथा व्यक्ति, समाज व राष्ट्र संघर्षरत् हो जाता है।

आक्रामकता—कुण्ठाग्रस्त व्यक्ति प्रतिक्रिया स्वरूप आक्रामक हो जाता है तथा आक्रामकता ही उसका व्यवहार व आदत बन जाती है। सामाजिक व राजनैतिक संघर्षों में आक्रामकता एक प्रमुख कारण बनती है।

परमाणु अस्त्र-शस्त्रों का भय—आणविक अस्त्रों ने अपने प्रारम्भिक काल से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उथल-पुथल शुरू कर दी थी। परिणाम स्वरूप उस समय की महाशक्तियों के बीच परस्पर अविश्वास की वृद्धि और शीतयुद्ध को प्रोत्साहन मिला। आणविक शक्ति से सम्पन्न होने की लालसा ने ही शस्त्रीकरण की दौड़ को जन्म दिया तथा सैनिक गुटों के निर्माण का भी एक कारण बना। एशिया और अफ्रीका के देश भी आणविक कूटनीति से बच न सके तथा विश्व के देशों की सैनिक व्यूह रचना ही बदल गई।

आणविक अस्त्रों की सैनिक कूटनीति ने विश्व की अर्थव्यवस्था पर भी प्रभाव डाला। विकासशील राष्ट्रों की राष्ट्रीय आय का एक बड़ा हिस्सा शस्त्रीकरण में खर्च होने लगा। विश्व का सैनिक खर्च जो प्रारम्भ में 25 बिलियन डॉलर था, आज यह 500 बिलियन डॉलर तक पहुंच गया है तथा सन् 2000 तक इसके 940 बिलियन डॉलर तक पहुंचने की उम्मीद है। अतएव परमाणु कूटनीति आज पूरे विश्व पर हावी है तथा विश्व को निरन्तर संघर्षरत् रखे हुए है।

संघर्ष का विकास माइक्रो व मेक्रो दोनों ही स्तर पर होता है। सूक्ष्म स्तर पर संघर्ष का विकास तब होता है जब एक व्यक्ति स्वयं के व्यवहार के परिप्रेक्ष्य में समूह के व्यवहार को देखता है। प्रारम्भिक मनोवैज्ञानिक अध्ययनों में व्यक्तियों के व्यवहार को समूह-संघर्षों का प्रमुख कारण माना गया। समकालीन संघर्षों में भी व्यक्तियों के व्यवहार की अहं भूमिका स्पष्ट है।

समाजशास्त्री, मानवशास्त्री तथा राजनीतिज्ञों एवं संगठन तथा संचार सिद्धान्तों ने संघर्ष की मेक्रो दृष्टि को ग्रहण किया। इन्होंने संघर्ष को एक ऐसी स्थिति माना है जिसमें एक विशेष समूह दूसरे का सक्रिय प्रतिद्वन्द्वी बनता है। अर्थात् व्यक्तिगत स्तर पर व्यक्तिगत व्यवहार तथा समूह के स्तर पर समूहों का परस्पर विरोध संघर्ष के विकास का प्रमुख कारण है।

संघर्ष निराकरण

संघर्ष के उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् संघर्ष निराकरण या कलह-शमन पर भी विचार उपयुक्त होगा। संघर्ष-निराकरण का अर्थ संघर्ष-विलोपन (Conflict elimination) नहीं है। इसका अर्थ है—निराकरण का सही रास्ता। प्रो० महेन्द्रकुमार के अनुसार—संघर्ष निराकरण का अर्थ है—आन्तरिक एवं समूहों के बीच संघर्षों का शांतिपूर्ण समाधान। चूंकि संघर्ष के मूल में व्यक्ति

या समूह के विश्वास व दृष्टिकोणों की अहं भूमिका है, इसलिए निराकरण का स्वरूप गलत विश्वास व दृष्टिकोण को बदलने में ही निहित है।

अभिवृत्ति परिवर्तन और संघर्ष निराकरण

हाल ही के वर्षों में इस बात की ओर व्यापक रुचि रही है कि अपने देश की जनता की अभिवृत्तियों तथा दूसरे देशों की जनता के प्रति अपनी अभिवृत्तियों में क्रियाशील होकर परिवर्तन लाए जायें। विभिन्न सरकारें भी लोगों की अभिवृत्तियों को बदलने के लिए प्रयत्नशील हैं। 1930 में अमेरिका में रूजवेल्ट ने आर्थिक समस्याओं से निपटने के लिए कर्मचारियों तथा किसानों के प्रति वहां के लोगो की अभिवृत्तियो मे भारी परिवर्तन किये। भारत में गांधीजी ने उन लाखो लोगो की अभिवृत्तियो को बदलने का विशाल कार्य हाथ में लिया जो अंग्रेजी शासन के प्रति या तो उदासीन थे या भयभीत। उन्होंने स्वराज तथा प्रजातंत्र के प्रति अनुकूल अभिवृत्ति व विदेशी शासन के विरूद्ध अभिवृत्ति निर्माण के प्रयत्न किये तथा साथ ही अंग्रेजो की अभिवृद्धि बदलने का भी प्रयत्न किया ताकि वे उपनिवेशवादी नीति का अत करने के अनुकूल हो सकें तथा अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष को टाला जा सके। जातीय संघर्षो को समाप्त करने की दृष्टि से उन्होने हिन्दुओ व मुसलमानों की अभिवृत्ति परिवर्तन के प्रयास किये ताकि वे एक दूसरे के प्रति तथा हरिजनो के प्रति अनुकूल हो सकें। यह हमारी अभिवृत्तियो का व्यापक परिवर्तन ही है जिसके बल पर हमने एक राष्ट्र का निर्माण किया तथा स्वराज प्राप्ति के बाद की कठिनाईयों को झेल लिया।

अन्तर्राष्ट्रीय विवादो व असमानताओ पर आधारित संघर्षो के निदान हेतु हाल ही में यह अभिवृत्ति विकसित हुई है कि अल्प-विकसित राष्ट्रों का सहयोग करना हमारा कर्तव्य है। उद्योगपतियों व पूंजीपतियों की अभिवृत्ति को बदलने के प्रयास भी हुए है ताकि वे व्यक्तिगत हित की जगह राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय हित के लिए कार्य कर सके। राजनैतिक अभिवृत्तियों में भी परिवर्तन के फलस्वरूप आज प्रत्येक राष्ट्र की स्वतंत्रता तथा स्वायत्तता को महत्त्व मिला है तथा हर राष्ट्र के सरकार बनाने के अधिकार को स्वीकृति मिली है।

संघर्ष निराकरण के पक्ष में अभिवृत्ति परिवर्तन हेतु मुख्य रूप से निम्नलिखित विधियों का प्रयोग किया जाता है—

1. व्यक्तियों को बाह्य प्रभाव में रखकर उनमें होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन—इस विधि में व्यक्तियों के किसी समूह का अभिवृत्ति परीक्षण किया जाता है, तत्पश्चात् समूह को एक विशेष प्रकार का अनुभव कराने के पश्चात् पुनः अभिवृत्ति परीक्षण किया जाता है। दोनों परीक्षणों के परिणामों में अन्तर अभिवृत्ति परिवर्तन को दर्शाता है।

2. अन्योन्यक्रिया विधि—इस विधि के अनुसार व्यक्ति में जिस तरह की अभिवृत्ति का निर्माण चाहते हैं, उसके अनुकूल सामाजिक परिवेश में रखा जाता है ताकि उसे अन्योन्यक्रिया करने का अवसर मिल सके।

3. समूह परिचर्चा—परिचर्चा पद्धति में व्यक्ति की सक्रिय सहभागिता के कारण वह व्यक्तिगत रूप से उसके प्रति अनुरक्त हो जाता है तथा व्यक्तिगत निश्चय की अपेक्षा समूह निर्णय अनिवार्य रूप से पालनीय होते हैं। अभिवृत्ति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने के लिए यह आवश्यक है कि वैयत्तिक अहंमन्यता को सन्निहित किया जाए। ऐसा वैयक्तिक आवेष्टन सामाजिक स्तर पर परस्पर क्रिया-प्रक्रिया के आदान-प्रदान द्वारा बढ़ता है। परिणामस्वरूप अभिवृत्ति परिवर्तन भी समूह के प्रतिमानों के अनुकूल ही होता है।

4. भावनात्मक अपील—इस विधि में समूह के प्रतिमानों को ध्यान में रखकर उनके निर्माण में व्यक्ति के योगदान को बताकर उसके भावों को उभारा जाता है।

उपर्युक्त विधियों द्वारा हम किसी विषय या समस्या के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण में परिवर्तन कर सकते हैं अर्थात् जो व्यक्ति पहले जिस समस्या या विषय के प्रतिकूल थे, उनके सम्बन्ध में अब वे अनुकूल अभिवृत्ति वाले होने लगते हैं।

संघर्ष निराकरण की विधियां—

शांतिपूर्ण समाधान या कलह-शमन की दृष्टि से हिंसा या कानून पर आधारित तरीकों को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे स्थायी समाधान प्रदान नहीं करते। हिंसा या कानून का समाधान स्वैच्छिक नहीं, दबाव द्वारा स्वीकृत होता है। वार्त्ता, सामूहिक सौदेबाजी एवं संधियां आदि भी कलह-शमन के लिए प्रयुक्त होती हैं पर ये भी उपयोगितावादी होने के कारण नैतिक शक्ति नहीं रखते। गांधीजी की दृष्टि में हृदय परिवर्तन या नैतिक शक्ति द्वारा किया गया समाधान ही स्थायी होगा। मूलतः किसी भी विधि की

उपयुक्तता का आकलन इस आधार पर किया जा सकता है कि निराकरण के पश्चात् दोनों पक्षों के बीच सम्बन्ध कैसे रहेंगे? प्रो० गाल्टुंग ने कलह-शमन हेतु गांधीवादी विधियों के चार आधार प्रस्तुत किये हैं—

1. संघर्ष या संघर्षरत् पक्ष से अलग हो जाना (Decoupling)

संघर्ष निराकरण हेतु हमारा प्रथम प्रयास यह हो कि हम उससे अलग हो जाएं। असहयोग, अवज्ञा, सत्याग्रह आदि सम्बन्ध विच्छेद के उदाहरण हैं। सामाजिक, राजनैतिक या व्यापारिक सम्बन्ध तोड़ना सतही कार्य है, मूलतः गांधी मानवीय एकता में विश्वास करते हैं तथा उनका विश्वास हृदय परिवर्तन में है।

2. एकता (Integration)

सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक स्तर पर जो रुकावटें हैं, वे मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-रेखाएं बनाती हैं। चूंकि आध्यात्मिक स्तर पर हम एक हैं, इसलिए अहिंसा की शक्ति से ये भेद-रेखाएं दूर की जा सकती हैं।

3. समझौता (Compromise)

सत्याग्रह के आधार पर यदि हम जीत भी जाएं एवं हमारी बातें मान ली जाएं, फिर भी हमें समझौते के लिए तत्पर रहना चाहिए। इससे संघर्ष निराकरण के पश्चात् भी हमारे सम्बन्ध मधुर रहेंगे। गांधी जी के अनुसार ऐसा समझौता मूल्यों व मूलभूत तत्वों की कीमत पर नहीं होना चाहिए।

4. विरोधों का निराकरण (Resolution of incompatibility)

जिस संघर्ष के निराकरण की बात होती है, निश्चित ही उस संघर्ष की जड़ें गहरी नहीं होती। संघर्ष की वास्तविक जड़ें तो समाज-संरचना में छिपी होती है, इन्हें खत्म करने के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक ढांचे को ही बदलना पड़ता है। यह बदलाव धीरे-धीरे आता है तथा इसे अहिंसक साधनों से लाया जा सकता है।

संघर्ष निराकरण हेतु गांधीवादी विधियां—

1. प्रदर्शन (Demonstration)

अन्याय एवं सरकार के गलत कार्यों के विरूद्ध शिक्षित लोगों को संगठित करने का एक अच्छा साधन है—प्रदर्शन, जिसका सत्याग्रह में अपना एक विशिष्ट स्थान है। गांधी जी ने इसका प्रयोग 1908 में दक्षिणी अफ्रीका में रजिस्ट्रेशन सर्टिफिकेट एक्ट को जलाने के लिए, जलियांवाला बाग के

विरोध में, दाण्डी यात्रा के रूप में, 1932 में द्वितीय अहिंसक असहयोग आन्दोलन में तथा 1942 में क्विट इण्डिया मूवमेंट के समय किया था।

2. पिकेटिंग (Picketing)

पिकेटिंग का उद्देश्य सरकार पर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दबाव ड़ालना है तथा लोगों के बीच राजनैतिक चेतना और स्वदेशी चेतना जागृत करना है। गांधी जी ने इसका प्रयोग 1907 में दक्षिणी अफ्रीका में तथा 1920-22 व 1930-34 के अहिंसक असहयोग आन्दोलन में किया।

3. बहिष्कार (Boycott)

गांधी ज़ी ने अफ्रीका में ऑफिस तथा रजिस्ट्रेशन प्रमाण-पत्रों का बहिष्कार किया तथा भारत में 1905 व 1930 में विदेशी सामान, विदेशी सुविधाओ व विदेशी संस्थाओं का बहिष्कार किया।

4. हड़ताल (Strike)

श्रम समस्याओं के निराकरण हेतु गांधी जी ने हड़ताल को सत्याग्रह की एक पद्धति के रूप में विकसित किया। गांधी जी न्यायपूर्ण शिकायतों को दूर करने के लिए शांतिपूर्ण अहिंसक हड़तालों के विरोधी नहीं थे, पर ऐसी कोई हडताल के पक्षधर नहीं थे, जो तोड़-फोड पर आधारित तथा औचित्य की दृष्टि से समर्थनीय न हो।

5. असहयोग (Non-cooperation)

गांधी जी के अनुसार--"असहयोग तत्त्वतः शोधन प्रक्रिया है। यह लक्ष्यों से कहीं अधिक कारणों का उपचार करता है। यह हमारे सामाजिक सम्बन्धों को विशुद्ध आधार पर अधिष्ठित करने का आन्दोलन है ताकि उनकी मीमांसा हमारे आत्मसम्मान एवं गौरव के अनुकूल की जा सके। यह अपने अंतिम विश्लेषण में कुछ सुविधा दे सकने वाली बुराई से सम्बन्ध विच्छेद करने के कारण उत्पन्न कष्टों का स्वेच्छया वरण है।" गांधी जी ने न्याय प्राप्ति हेतु इस विधि का 1920-22 व 1930-34 में सर्वाधिक सहारा लिया।

6. सविनय अवज्ञा (Civil disobedience)

"जब कानून बनाने वाले की गलती सुधारने की चेष्टाएं अर्जी आदि देने के बाद भी विफल हो जाती हैं तब यदि आप उस गलती के सामने सिर झुकाने के लिए तैयार नहीं हैं तो आपके सामने दो ही मार्ग हैं--या तो आप भौतिक शक्ति से उसे अपनी बात मानने पर विवश कर दें या उस कानून

को तोड़ने का दण्ड झेलकर व्यक्तिगत रूप से कष्ट वरण करें।" इस अवज्ञा को सविनय इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह सापराध भावना से नहीं होती है। 1920-22, 1930-34 व 1942-47 में गांधी जी ने इस विधि का प्रयोग स्वराज प्राप्ति के लिए किया था।

7. आत्मशुद्धि (Self-Purification)

आत्मशुद्धि में नैतिक शक्ति है जो विरोधी के हृदय पर सीधा प्रभाव डालती है तथा उसे अपनी गलतियों का अहसास कराती है। आत्मशुद्धि असहयोग प्रविधि की जड़ है। गांधी जी ने कहा था—"मैं इस आधारभूत निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि यदि तुम कोई सचमुच महत्त्वपूर्ण कार्य करना चाहते हो तो तुम्हें न केवल विवेक को सन्तुष्ट करना होगा बल्कि हृदय को भी प्रेरित करना होगा। बुद्धि का आवेदन मस्तिष्क के प्रति अधिक होता है किन्तु हृदय तक प्रवेश तपश्चर्या के द्वारा ही सम्भव है। इससे मनुष्य की आन्तरिक सहानुभूति उद्‌भूत होती है, इसलिए यह अधिक स्थायी है। आत्मशुद्धि का अर्थ है—न्याय एवं सत्य की चेतना एव असत्य से स्वयं को अलग करने की शक्ति का संग्रह। यदि इसे उपलब्ध किया जा सके तो सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक सम्बन्ध स्वतः ही परिवर्तित हो जायेंगे।

उपर्युक्त विधियों के अलावा भी कलहशमन हेतु कुछ और गांधीवादी तरीके है, जैसे—हिजरात, करों का भुगतान न करना, समानान्तर सरकार आदि।

संघर्ष निराकरण की कूटनीतिक विधियां

उपर्युक्त गांधीवादी विधियों के अतिरिक्त संघर्ष निराकरण की कुछ अन्य कूटनीतिक विधियां भी हैं, जिनमें से कुछेक विधियों का उल्लेख आवश्यक है—

1. वार्ता (Negotiation)

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अर्थ में वार्ता एक वैधानिक, व्यवस्थित तथा प्रशासनात्मक प्रक्रिया है, जिसकी सहायता से राज्य सरकारें अपनी संदिग्ध शक्तियों का प्रयोग करते हुए एक-दूसरे के साथ अपने सम्बन्धों का संचालन करती हैं और मतभेदों पर विचार-विमर्श, उनका व्यवस्थापन तथा समाधान करती है।

2. विमर्श (Discussion)

इस विधि में दोनों पक्षों को एक ऐसा मंच प्रदान किया जाता है जहां

वे स्वतंत्र रूप से लिखित या मौखिक अपने दावे या शिकायतें प्रस्तुत कर सकते हैं तथा द्विपक्षीय कूटनीति के माध्यम से ऐसी स्थिति में पहुंचा जा सकता है जहां विवाद के समाधानार्थ कोई समझौता हो सके।

3. विवाचन (Arbitration)

विवाचन का उद्देश्य दो विरोधी पक्षों में अविश्वास व अन्य रुकावटें दूर कर परस्पर एकता स्थापित करना है। विवाचन न्याय निर्णय है, इसमें समझौते का स्थान नहीं होता। प्रो० ओपनहीम के अनुसार—विवाचन का अर्थ है मतभेदों का समाधान कानूनी निर्णय द्वारा किया जाए। यह निर्णय दोनों पक्षों द्वारा निर्वाचित एक या अनेक पंचों के न्यायाधिकरण द्वारा होता है जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से भिन्न प्रकृति का है।

4. सामूहिक-सौदेबाजी (Collective Bargaining)

यह दो पक्षों के बीच विचार-विमर्श और बातचीत का एक ढंग है जिसमें आपसी समझौते द्वारा किसी समस्या का द्विपक्षीय हल खोजा जाता है।

उपर्युक्त कूटनीतिक विधियों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कलह-शमन हेतु मंत्रणा (Counselling) अनुनय (Persuation) आदि विधियों का भी प्रयोग किया जाता है।

संघर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में संघर्ष निराकरण हेतु प्रयुक्त कुछ सुझाव—

क्षेत्र	निराकरण हेतु सुझाव
1. वैयक्तिक	• व्यापक दृष्टिकोण • उपवास व प्रायश्चित • साक्षात् बातचीत को प्राथमिकता
2. प्रजातीय	• वैज्ञानिक जानकारी के आधार पर जातीय भेद-भाव दूर करें • शिक्षा-नीति में गतिशील परिवर्तन • संयुक्त राष्ट्रसंघ व एन०जी०ओ० के प्रयास
3. सामाजिक	• उच्चकोटि के लक्ष्यों के लिए सहकारी ढंग पर कार्य • उन आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों का उन्मूलन जिनके कारण

व्यापक चिन्ता व विद्वेष फैलते हैं।

- **बच्चे का सामाजीकरण—पूर्वाग्रहों में न पालें।**

4. राजनैतिक
- **सह-अस्तित्व को प्रमुखता**
- **सम्बन्धों का पुनर्व्यस्थापन**
- **संधियां एवं सहयोग।**

संघर्ष एवं संघर्ष निराकरण हेतु गांधीवादी दृष्टि

प्रो० गाल्टुंग ने संघर्ष व संघर्ष निराकरण हेतु गांधीवादी दृष्टि को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

1. लक्ष्य व संघर्ष—

11. संघर्ष में कार्य करो।
- कार्य अभी करो।
- कार्य यहीं करो।
- अपने समूह के लिए कार्य करो।
- बिना पहचान के कार्य करो।
- परम्परा से हटकर कार्य करो।

12. संघर्ष को अच्छी तरह परिभाषित करें।
- स्वयं के लक्ष्यों को स्पष्ट करें।
- प्रतिपक्षी के लक्ष्यों को समझने का प्रयत्न करें।
- सामान्य और विरोधी लक्ष्यों पर जोर दें।
- संघर्ष से सम्बन्धित वस्तुनिष्ठ तथ्यों को स्पष्ट करें।

13. संघर्ष के लिए विधेयात्मक दृष्टि रखें।
- संघर्ष के विधेयात्मक पक्ष पर बल दें।
- संघर्ष को प्रतिपक्षी से मिलने के अवसर के रूप में देखें।
- संघर्ष को समाज रूपान्तरण के अवसर के रूप में देखें।
- संघर्ष को स्वयं के रूपान्तरण के अवसर के रूप में देखें।

2. संघर्ष

21. संघर्ष में अहिंसक रूप से कार्य करें।

- अपने कार्यों से चोट व नुकसान न पहुंचायें।
- अपने शब्दों से चोट व नुकसान न पहुंचायें।
- अपने विचारों से चोट व नुकसान न पहुंचायें।
- प्रतिपक्षी की सम्पत्ति का नुकसान न करें।
- कायरता की अपेक्षा हिंसा को प्राथमिकता दें।
- बुरे व्यक्ति के लिए भी अच्छा करें।

22. लक्ष्यों के अनुरूप कार्य करें।

- सृजनात्मक तत्त्वों का समावेश करें।
- खुले रूप से कार्य करें, गुप्त रूप से नहीं।
- संघर्ष के सही बिन्दु पर ध्यान कैन्द्रित करें।

23. बुराई का सहयोग न करें।

- दोषयुक्त संरचना से असहयोग।
- बुरे कार्यों से असहयोग।
- बुराई का सहयोग करने वालों से असहयोग।

24. आत्म बलिदान का भाव रखें।

- दण्ड से न बचें।
- यदि आवश्यक हुआ तो मरने के लिए तैयार रहें।

25. एक ही दिशा में न सोचें।

- प्रतिद्वन्द्विता और प्रतिद्वन्द्वी में भेद करें।
- व्यक्ति और उसके स्तर में भेद करें।
- सम्पर्क बनाए रखें।
- विरोधी के स्तर का सम्मान करें।

3. संघर्ष निराकरण

31. संघर्ष का समाधान करें।

- संघर्ष को सदैव के लिए न रखें।
- प्रतिद्वन्द्वी के साथ वार्ता के अवसर ढूंढें।

- विधेयात्मक सामाजिक–रूपान्तरण के अवसर खोजें।
- मानवीय रूपान्तरण के अवसर खोजें।

32. मूलभूत तत्त्वों पर जोर दें।

- मूलभूत तत्त्वों से व्यापार न करें।
- सहायक तत्त्वों के प्रति समझौते की इच्छा रखें।

33. स्वयं के प्रति भी शंका करें।

- आप भी गलत हो सकते हैं
- अपनी गलतियों को हृदय से स्वीकार करें।

34. प्रतिद्वन्द्वी के प्रति अपने विचारों को उदार रखें

- प्रतिद्वन्द्वी की कमजोरियों का फायदा न उठायें।
- प्रतिद्वन्द्वी को स्वयं से ज्यादा कठोर न मानें।
- प्रतिद्वन्द्वी का विश्वास करें।

35. रूपान्तरण करें न कि बल प्रयोग।

- स्वयं तथा प्रतिद्वन्द्वी को स्वीकृत समाधान ही खोजें।
- प्रतिद्वन्द्वी को न दबायें।
- प्रतिद्वन्द्वी को कारण में विश्वास करने वाले के रूप में बदलें।

कलह शमन एव आक्रामकता

मानवीय स्वभाव मुख्यतः दो प्रकार का है—अन्तर्मुखी और बाह्यमुखी। मनोविज्ञान में अन्तर्मुखी स्वभाव की दो विशेषताएं बतलाई गई हैं—मौन व्यक्तित्व व आक्रामकं व्यक्तित्व। न्यू वेबस्टर डिक्शनरी के अनुसार आक्रामकता से अभिप्राय ऐसे व्यक्तित्व से है जो दूसरे पर कारण-अकारण आक्रमण करे। यह आक्रमण शारीरिक या अन्य रूपों में भी हो सकता है तथा व्यक्ति का स्वयं का भय, असुरक्षा, हीन भावना या ऐसे ही अन्य निषेधात्मक भाव भी इसके कारण हो सकते हैं। आक्रामक व्यक्ति अपनी जटिलताओं या कुण्ठाओं को दबाने हेतु आक्रामकता को साधन के रूप में प्रयोग करते हैं उस समय वे अपने अवचेतन-मन द्वारा निर्देशित होते हैं, भले ही चेतना के स्तर पर उन्हें इसका ज्ञान न हो।

आक्रामकता के कारण

वे कारण या परिस्थितियां जो एक मनुष्य को आक्रामक प्रतिक्रिया करने को बाध्य करती हैं, निम्न हो सकती हैं—

1. कुण्ठा एवं हानिकारक उद्दीपक
2. इतिहास या अतीत
3. सामाजिक कारण
4. मनुष्य का स्वभाव।

कुण्ठा एवं हानिकारक उद्दीपक

विभिन्न प्रकार की कुण्ठायें या हानिकारक उद्दीपक आक्रामकता के मुख्य कारण हो सकते हैं। फ्रायड ने व्यक्ति में एक ऐसी अचेतन शक्ति की परिकल्पना की है, जिसके कारण वह युद्ध का स्वागत करता है। फ्रायड का मत है—"निराशा के कारण मनुष्य ऐसे अवरुद्ध आक्रमण के लिए प्रेरित होता है तथा अभिव्यक्ति के लिए एक ऐसा मार्ग ढूंढ़ने का प्रयत्न करता है जो सामाजिक

दृष्टि से स्वीकृत हो और वह उसके अहं को भी स्वीकार्य हो।"

हिमलबेट ने कुण्ठा को उत्पन्न करने वाली तीन मुख्य स्थितियां बतलाई हैं—

1. प्रतिकूल वातावरण द्वारा प्रस्तुत बाह्य बाधाएं जो व्यक्ति को अपने लक्ष्य प्राप्ति से रोकती हो।

2. मनुष्य के पराहं द्वारा प्रस्तुत आंतरिक बांधाएं जो उसकी अस्वीकार्य प्रवृत्तियों की उन्मुक्त अभिव्यक्ति को रोकती है तथा

3. दो पारस्परिक विशिष्ट प्रवृत्तियों का एक साथ उत्प्रेरण, जहां पर एक व्यक्ति की संतुष्टि से दूसरे व्यक्ति के तात्कालिक संतोष में बाधा पड़ती है।

प्रत्येक प्रकार की कुण्ठा आक्रामकता का कारण नहीं बनती। निषेधात्मक भावों के परिमाण के आधार पर ही आक्रामकता का परिमाण निर्धारित होता है। किस लक्ष्य के अवरुद्ध होने पर उत्पन्न हुई कुण्ठा आक्रामकता का कारण बनती है, इस हेतु लक्ष्य तीन प्रकार के हो सकते हैं—

1. एक ऐसा लक्ष्य जो व्यक्ति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण न हो तथा जिसके प्राप्त न होने से उसके व्यक्तित्व को गंभीर हानि न पहुंचे।

2. दूसरा ऐसा लक्ष्य, जिसकी अप्राप्ति से उसके व्यक्तित्व की अखण्डता को चुनौती, उसकी सुरक्षा भावना पर आघात तथा उसके अहं पर चोट लगे, तथा

3. तीसरा ऐसा लक्ष्य जिसकी प्राप्ति में निरन्तर बाधाएं आती रहें तथा इसके कारण से प्राप्त हुई असफलता, संघर्ष व्यक्ति को निरन्तर कुण्ठित करता रहे।

प्रथम प्रकार के लक्ष्य अवरोध से उत्पन्न हुई कुण्ठा आक्रामकता का कारण नहीं बनती। दूसरे प्रकार के अवरोध से उत्पन्न हुई कुण्ठा आक्रामकता का कारण हो सकती है जबकि तीसरे प्रकार के लक्ष्य के अवरोध से उत्पन्न हुई कुण्ठा निश्चित ही आक्रामकता का कारण बनती है।

हानिकारक उद्दीपक से अभिप्राय उस परिस्थिति से है, जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर प्रत्यक्ष रूप से आक्रमण करके उसे पुनः आक्रमण के लिए उकसाता है। यदि कोई व्यक्ति किसी पर आक्रमण करता है तो प्रतिपक्षी के पास दो ही विकल्प होते हैं या तो वह उस स्थान को छोड़ दे या प्रतिक्रिया स्वरूप आक्रमण करे।

उपर्युक्त दोनों कारणों में हानिकारक उद्दीपक आक्रामक होने का ज्यादा जिम्मेदार है।

इतिहास या अतीत

अन्य प्रतिक्रियाओं की भांति आक्रामकता की भी एक विशेष प्रक्रिया होती है। निरन्तर आक्रामक भावना से व्यक्ति को आक्रामकता की आदत पड़ जाती है जिससे व्यक्ति कुण्ठा या हानिकारक उद्दीपक के अभाव में भी आक्रामक बने रह सकता है। उदाहरणार्थ—आक्रामकता से यदि व्यक्ति अतीत में निरन्तर लाभान्वित होता रहा है तथा उसके विकास में भी आक्रामकता किसी प्रकार सहायक रही है तो वह व्यक्ति आक्रामकता का निरन्तर व्यवहार करता रहेगा तथा उसकी एक विशेष प्रकार की आदत निर्मित हो जायेगी। आक्रामकता की ओर उसका झुकाव इतना बढ़ जायेगा कि वह शान्तपूर्ण समाधान की सम्भावना होते हुए भी उसका उपयोग नहीं करना चाहेगा एवं उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही आक्रामक हो जायेगा।

सामाजिक कारण

सामाजिक आलम्बन या सहयोग एक व्यक्ति के व्यवहार पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। व्यक्ति समूह में रहता है इसलिये उस समूह का प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार, क्रिया आदि पर पड़ता है। मानव-शास्त्रियों ने विभिन्न अनुसन्धानों द्वारा विभिन्न प्रकार के समूहों का व्यक्ति पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया है। एक परिवार में रहने वाले बच्चे के व्यक्तित्व-निर्माण की प्रक्रिया उसके माता-पिता के व्यक्तित्व से प्रभावित होती है। यदि उस पारिवारिक समूह में आक्रामकता व्याप्त है तो बच्चे के व्यवहार में निश्चित रूप से किसी न किसी अंश में आक्रामकता आ ही जायेगी। परन्तु यदि समूह में आक्रामकता का अभाव है तो प्रायः यह देखा गया है कि बच्चे का झुकाव आक्रामकता की ओर कम ही होगा।

मनुष्य का स्वभाव

स्वभाव का विश्लेषण उस व्यवहार के द्वारा किया जा सकता है जो कि मनुष्य के जीवन के पूर्वार्द्ध में घटित होता है तथा उस व्यवहार को निरन्तर प्रयोग में लाने के कारण वह उसकी आवश्यक आदत बन जाती है एवं कालान्तर में वह उसका स्वभाव ही हो जाता है। स्वभाव न केवल आक्रामक व्यवहार को प्रभावित करता है अपितु विभिन्न प्रकार के अन्य व्यवहारों को भी प्रभावित

करता है जो मनुष्य के जीवन में आवश्यक है। स्वभाव मनुष्य की सक्रियता के स्तर, प्रतिक्रिया की तीव्रता, स्वतंत्रता आदि को भी प्रभावित करता है। मनुष्य का स्वभाव यदि परिपक्व है और वह कारणों पर गम्भीर चिन्तन कर सकता है तो वह किसी प्रतिक्रिया से पूर्व उन कारणों को खोज सकता है जो आक्रामक होने में सहयोग देते हैं। एक परिपक्व मस्तिष्क विचारपूर्वक प्रतिक्रिया करता है जो कि आक्रामकता की तीव्रता को प्रभावित कर कम कर देता है।

सक्रियता के स्तर से अभिप्राय उस ऊर्जा से है जो व्यक्ति अपने प्रतिदिन के व्यवहार हेतु प्रयोग में लाता है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया है कि अधिक सक्रियता स्तर से क्रोधात्मक भावों को अधिक उद्दीपन मिलता है जो आक्रामकता का कारण बनता है। कम सक्रियता स्तर के व्यक्ति को हानिकारक या क्रोधात्मक उद्दीपन नहीं मिलता, परिणामतः ऐसा व्यक्ति आक्रामक नहीं बनता।

प्रतिक्रिया की तीव्रता विभिन्न प्रकार के मनुष्यों में विभिन्न प्रकार की होती है। जितनी तीव्र प्रतिक्रिया होगी, उतनी ही अधिक आक्रामकता की सम्भावना होगी। चूंकि प्रतिक्रिया की तीव्रता उसी रूप में प्रभावित करती है, अतः तीव्र प्रतिक्रिया वाले व्यक्ति अधिक आक्रामक होते हैं तथा जिनकी प्रतिक्रिया का स्तर तीव्र नहीं होता, तुलनात्मक रूप से वे कम आक्रामक होते हैं।

स्वभाव में स्वाधीनता का अंश व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है। स्वाधीनता का अर्थ स्वावलम्बन, आत्मनिर्भरता तथा सामूहिक दबाव के निषेध की अभिरूचि से है। यह देखा गया है कि अधिक स्वाधीन विचारधारा वाले व्यक्ति में आक्रामक प्रवृत्ति पाये जाने की अधिक सम्भावना होती है तथा दूसरों पर निर्भर रहे या आंशिक रूप से पराधीन रहे व्यक्ति में आक्रामक प्रवृत्ति रहने की कम सम्भावना रहती है।

अन्तःस्रावी ग्रंथि तन्त्र और आक्रामकता

चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में किये गये अनुसन्धानों से यह ज्ञात हुआ है कि निषेधात्मक उद्दीपन हाईपोथेलेमस को उद्दीप्त करता है। यहां से निम्रित रासायनिक स्राव अनुकम्पी नाड़ी संस्थान तथा एड्रीनल ग्रंथि को प्रभावित करते हैं तथा प्रतिक्रिया में निम्रित अन्तःस्रावी स्रावों से ह्रदय की धड़कन तीव्र हो जाती है, रक्तचाप बढ़ जाता है तथा रक्त का प्रवाह मांस-पेशियों की तरफ होता है और व्यक्ति का शरीर आक्रमण के लिए तैयार हो जाता है। यदि प्रतिदिन

व्यक्ति को इसी प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पड़ जाये तो आक्रामकता उसका स्वभाव बन जाती है।

समूह आक्रामकता।

समूह आक्रामकता का कोई सन्तोषजनक विश्लेषण मनोविज्ञान या समाजविज्ञानों में नहीं मिलता। समूह में हिंसा के प्रमुख उदाहरणों में प्रतिस्पर्धा, नैतिक मूल्य आदि कारण पाये गये हैं। समूह की आक्रामकता का एक प्रमुख कारण भावात्मक तनाव भी है तथा कुण्ठा एवं विशेषकर पूर्वाग्रहों की अहं भूमिका रही है। मूलतः यदि देखा जाये तो समूह आक्रामकता में पूर्वाग्रह ही प्रमुख कारण है। इन पूर्वाग्रहों के कारण एक समूह अपनी ही जीवन शैली को अच्छा बतलाता है, अपने ही विचारों को अच्छा मानता है और अपनी ही मान्यताओं को जन-उपयोगी मानता है। परिणामस्वरूप समूह की आक्रामकता को बढ़ावा मिलता है। पूर्वाग्रहों के कई प्रकार हो सकते हैं, जैसे—अपने समूह के पूर्वाग्रह, राष्ट्रीय पूर्वाग्रह, वैचारिक, जातीय और साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह आदि। ये पूर्वाग्रह अपने-अपने समूहों में आक्रामकता के लिए जिम्मेदार है।

आक्रामकता पर नियन्त्रण

मानव शास्त्रियों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि व्यक्ति का शारीरिक संस्थान, मानसिक योग्यता, भावनाएं, आकृति एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। इसलिये मनुष्य के लिए आक्रामक बनने में इनके हानिकारक तत्त्व सहयोगी बनते हैं। समाज में व्याप्त विषमताएं आदि में भी वह उद्दीपन व्याप्त है जो आक्रामकता में सहायक है। प्रो० हम्बर्ग ने लिखा है—"यदि आक्रामकता को प्रोत्साहन मिलेगा, उद्दीपन मिलेगा तो वह प्रकट हो जायेगी। संघर्ष, तनाव व हिंसा आदि को सामाजिक मान्यता मिलती है तो मनुष्य उसे करके ही सन्तुष्ट होना चाहता है। इसलिये यदि आक्रामकता या हिंसा को नियन्त्रित करना है तो हमें इस प्रकार की संस्कृति अपनानी पड़ेगी जो कि हमें आक्रामकता के विरोध में शिक्षित करे तथा उन परिस्थितियों को दूर करने में सहायता दे, जो मनुष्य के आवश्यक कार्यों, समस्याओं आदि को सुलझाने में बाधा डालती है।" और हमें इस प्रकार की जीवन शैली का भी निर्माण करना पड़ेगा जो व्यक्ति को पूर्वाग्रहों में न पालकर विधेयात्मक भाव और चिन्तन देती है। ये प्रयास हमें समाज की लघुत्तर इकाईयों से ही प्रारम्भ करना होगा।

कलह-शमन और अनेकान्त

यह पृथ्वी कभी भी धर्म व दर्शन से रिक्त नहीं रही है। भारतवर्ष भी इसका अपवाद नहीं है। भारत में जैन, बौद्ध, वैदिक आदि विविध धर्मों का अस्तित्व रहा है। इन धर्मों के अपने-अपने विशिष्ट सिद्धान्त रहे हैं। अनेकान्त—जैन दर्शन का एक विशेष सिद्धान्त है। इससे ही बौद्धिक अहिंसा का सूत्रपात हुआ है, जो जैनों की अहिंसा-दर्शन में विशेष देन है। इसी देन के कारण अहिंसा जैन दर्शन से जुड़ी हुई है।

अनेकान्त की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भगवान महावीर के पूर्व भारत-भूमि पर वैचारिक-संघर्ष एवं दार्शनिक विवाद अपनी चरम सीमा पर थे। जैन आगमों के अनुसार उस समय 363 मत प्रचलित थे। इन 363 दार्शनिक सम्प्रदायों को जैन आगमों में चार वर्गों में विभाजित किया गया था—

1. **क्रियावादी**—जो आत्मा को पुण्य-पाप आदि का कर्ता-भोक्ता मानते थे।

2. **अक्रियावादी**—जो आत्मा को अकर्ता मानते थे।

3. **विनयवादी**—जो आचार-नियमों पर बल देते थे।

4. **अज्ञानवादी**—इनके अनुसार ज्ञान से विवाद उत्पन्न होते हैं, इसलिए अज्ञान ही परम श्रेय है।

वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में बुद्ध और महावीर दो महापुरुष हुए। बुद्ध ने विवाद व मतान्धता से ऊपर उठने के लिए विवाद परांगमुखता को अपनाया। किन्तु इससे मानवीय जिज्ञासा का समाधान नहीं हो पाया। व्यक्ति—दार्शनिक विचारों की इस संकुलता में सत्य को देखना चाहता था। वह जानना चाहता था कि इन विविध मतवादों में सत्य कहां है? ऐसी परिस्थिति में महावीर विरोध-समन्वय की एक विधायक दृष्टि लेकर आये और उन्होंने कहा—आग्रह-मतान्धता या एकान्त दृष्टि ही गलत दृष्टि है।

महावीर ने कहा—एकान्त दृष्टि और आग्रह ही सत्य का बाधक तत्त्व है। सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान अनाग्रह से ही हो सकता है। दूसरों के सत्य को झुठलाकर सत्य को नहीं पाया जा सकता। सत्य विवाद में नहीं, विवाद-समन्वय में प्रकट होता है।

अनेकान्त की दार्शनिक पृष्ठभूमि

पूर्ण सत्य जाना जा सकता है, पर कहा नहीं जा सकता। क्योंकि शब्दों की इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह एक साथ एक समय में पूर्ण सत्य को कह सके। इसलिए अपूर्ण साधन से पूर्णता को जानने के सभी प्रयास आंशिक सत्य से आगे नहीं बढ़ पाते और जब आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तब विवाद एवं वैचारिक संघर्ष जन्म ले लेते हैं।

वस्तुतः हमारी ऐन्द्रिक क्षमता, तर्क-बुद्धि, विचार-क्षमता, वाणी और भाषा इतनी अपूर्ण है कि वे सम्पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति में सक्षम नहीं हैं। वह केवल सत्य के एक अंश को ही कह सकती है। इतना ही नहीं वस्तु सत्य में परस्पर विरोधी गुण भी एक साथ रहते हैं। ऐसी स्थिति में दो भिन्न दृष्टियों में परस्पर विरोधी तथ्य भी एक साथ सत्य हो सकते हैं। जो वस्तु एक है वह अनेक भी है। जो वस्तु सत् है वह असत् भी है। वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी।

अनेकान्त का एक सूत्र है—सहप्रतिपक्ष। प्रत्येक पदार्थ विरोधी युगलों का संकुल है। इसलिए अनेकान्त का मूल आधार है—विरोधी के अस्तित्व की स्वीकृति, प्रतिपक्ष की स्वीकृति। अनेकान्त ऐकान्तिक या आग्रह-बुद्धि का निरसन कर अनाग्रही या अनेकांतिक-दृष्टि को प्रकट करता है। एकान्त मिथ्यादृष्टि के कारण सत्य के एक अंश को हम पूर्ण सत्य मान लेते हैं। जिससे एक मत का दूसरे मत के साथ विरोध हो जाता है। अनेकान्त इन विरोधों का परिहार करके उनका समन्वय करता है।

वर्तमान युग में अनेकान्त की आवश्यकता

वर्तमान युग सापेक्षवाद, समन्वय, सह-अस्तित्व आदि से परिचित है। पर इनके पीछे जो सिद्धान्त है उसकी जानकारी सामान्यतया लोगों को नहीं है। इन विचारों के पीछे जो सिद्धान्त है वह है—अनेकान्त। एक मनुष्य क्या सोच रहा है, क्यों, कहां और किस अवस्था में सोच रहा है—इसका निर्णय किये बिना दूसरे के चिन्तन और प्रतिपादन के साथ न्याय नहीं किया जा सकता।

वस्तु विराट् व अनन्तधर्मात्मक है। पर शब्दों की अपनी सीमा है। एक

शब्द एक समय में एक ही सत्य को बता सकता है। इसलिए इस व्यक्त सत्य के अलावा अव्यक्त सत्य जिसे कहा नहीं गया है, उसका भी अस्तित्व है। स्यात् शब्द यह बतलाता है कि सत्यांश अभिव्यक्ति को पूर्ण मत समझो। इस सापेक्ष दृष्टि के आधार पर ही हमारे ज्ञान में विरोध की छाया मिट सकती है।

युग की मांग अहिंसा का विकास भी अनेकान्तवादी दृष्टि के आधार पर ही हुआ है। विचारों की विषमता हिंसा का कारण है। अनेकांत का कहना है—सभी विचार परस्पर सापेक्ष हैं, इसलिए उनमें समन्वय संभव है।

उपर्युक्त आधारों पर आज अनेकान्त की आवश्यकता को समझा जा सकता है फिर भी विस्तृत दृष्टि हेतु अलग-अलग क्षेत्रों में इसके प्रयोग निम्न प्रकार से हो सकते हैं :—

पारिवारिक जीवन में अनेकान्त दृष्टि

पारिवारिक जीवन में संघर्ष के अनेक कारण होते हैं। सदस्यों की वैचारिक भिन्नता, जीवन स्तर, सदस्यों के पारस्परिक संबंध, आजीविका आदि पारिवारिक सदस्यों के बीच तनाव या कलह का कारण बनते हैं। पर वर्तमान में पारिवारिक जीवन में सामान्यतः संघर्ष के दो केन्द्र हैं—पिता-पुत्र तथा सास-बहू। इनमें विवाद का मूल कारण दोनों का दृष्टिभेद है। पिता जिस परिवेश में बड़ा हुआ है उन्हीं संस्कारों में पुत्र को ढालना चाहता है। जो मान्यताएं पिता की हैं, उन्हीं मान्यताओं को पुत्र द्वारा मनवाना चाहता है। यही स्थिति सास-बहू की है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा जीवन जिये जैसा उसने स्वयं जीया था। पर बहू युग के अनुरूप व अपने मातृ पक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। पीहर की स्वतंत्रता के स्थान पर ससुराल में मर्यादित जीवन जीना पड़ता है। यही सब परस्पर विवाद का कारण बनते हैं। जब तक एक-दूसरे कें प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण व दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाएगा तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता।

अनेकान्त कहता है—केवल अपने ही दृष्टिकोण के प्रति आग्रह न रखें, दूसरे के विचारों के प्रति भी सहिष्णु बनें। इस हेतु सहिष्णुता का विकास अपेक्षित है। हम स्वयं के भावात्मक संवेगों पर नियन्त्रण रखें, दूसरे के विचारों को समझने की कोशिश करें, अहं व गर्व की भावना को महत्त्व न दें।

सामाजिक क्षेत्र में अनेकान्त का प्रयोग

समाज अनेक जातियों व अनेक तरह के लोगों का समूह है। प्राचीन काल की वर्णव्यवस्था ने समाज में उच्च और निम्न वर्गों को जन्म दे दिया। अनेकान्त के अनुसार वर्ण जन्म के आधार पर नहीं, कर्म के आधार पर हों। कर्मणा जातिवाद मानवीय एकता का आधार है। परिवर्तनशील जाति मनुष्य-मनुष्य के बीच ऊंच-नीच और छुआछूत की दीवारें नहीं खड़ी कर सकतीं।

कोई भी संगठन समन्वय के बिना संभव नहीं है। समन्वय का दृष्टिकोण ही सह-अस्तित्व की बात को बल देता है और सापेक्षता सह-अस्तित्व को संभव बनाती है। निरपेक्ष दृष्टिकोण से सामाजिकता नहीं हो सकती क्योंकि निरपेक्षदृष्टि कहती है—पड़ौसी मरे या जीए, भूखा रहे या न रहे मुझे क्या? जबकि सामाजिक दृष्टि कहती है—परस्परोपग्रहो जीवानाम्।

साम्प्रदायिक वैमनस्य और अनेकान्त

अनेकान्त का प्रयोग धार्मिक क्षेत्र में धार्मिक सहिष्णुता व सर्व-धर्म समभाव के लिए किया जा सकता है।

विश्व के विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने युग की तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर साधना के बाह्य नियमों का निर्धारण किया। उनके मतावलंबियों ने अपने धर्माचार्यों के प्रति ममता व आग्रह के कारण अपने ही धर्म या साधना पद्धति को एकमात्र व अंतिम सत्य मानने को बाध्य किया। फलस्वरूप विभिन्न संप्रदायों के बीच वैमनस्य प्रारम्भ हुआ। यदि हम यह समझ लें कि कोई भी तत्त्व सब सम्प्रदायों में पूर्ण नहीं है। पूर्णता मर्यादित है। निरपेक्षता और पूर्णता हमारी कल्पना है, यथार्थ नहीं। इसलिए सापेक्ष दृष्टिकोण साम्प्रदायिक कलह को दूर करने में सक्षम है। सर्व-धर्म सद्भाव के लिए अनेकान्त के पांच सूत्र—

1. मण्डनात्मक नीति अपनाई जाय, दूसरों पर आक्षेप न हो।
2. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता।
3. दूसरे सम्प्रदाय व उनके अनुयायियों के प्रति घृणा के भाव न हों।
4. कोई सम्प्रदाय परिवर्तन करे तो उसके साथ अवांछनीय व्यवहार न किया जाय।

5. धर्म के मौलिक तथ्यों जैसे अहिंसा आदि के प्रचार के लिए सामूहिक प्रयत्न किये जाय।

राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के संदर्भ में अनेकान्त के प्रयोग

वर्तमान में राजनैतिक जीवन भी वैचारिक संकीर्णता से परिपूर्ण है। पूंजीवाद--समाजवाद आदि अनेक राजनैतिक विचारधाराएं तथा राजतंत्र--प्रजातंत्र आदि अनेक शासन प्रणालियां वर्तमान में प्रचलित हैं। ये विरोधी विचार एवं व्यवस्थाएं एक-दूसरे को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इतना ही नहीं प्रत्येक खेमे के राष्ट्र अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने हेतु भी तत्पर हैं।

विश्व में अनेक राष्ट्र, उन सबकी अलग-अलग विचारधाराएं फिर उनमें संघर्ष नहीं हो, यह तभी संभव है जब हम सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करें। सह-अस्तित्व अर्थात् विरोधी व्यक्तियों, विरोधी राष्ट्रों, विरोधी धर्मों का सह-अस्तित्व हो सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ इसका सर्वोपरि उदाहरण है। भिन्नता से लड़ाई आखिर कब तक करेंगे। भाषा ने, वर्गों ने, सीमाओं ने, रंगों ने न जाने मनुष्य जाति के कितने टुकड़े किये हैं और यही होता रहा तो युद्ध मानवजाति को नाश कर देगा। यदि मनुष्य को जीना है तो उसका मार्ग है सह-अस्तित्व।

आज का समय हमें बता रहा है कि हम बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों का, बड़े राष्ट्रों के लिए छोटों के हितों का बलिदान नहीं कर सकते। सापेक्ष नीति कहती है--किसी के लिए किसी का अनिष्ट नहीं किया जा सकता। प्रभुसत्ता की दृष्टि से सभी राष्ट्र स्वतंत्र हैं, जब सामर्थ्य की भिन्नता हो सकती है। इस भिन्नता या वैषम्य के आधार पर दूसरों को मिटाने की बात गलत है। शीत युद्ध इसी के परिणाम हैं। हम सापेक्षता और सह-अस्तित्व को स्वीकारें। आज यह माना जाने लगा है कि यदि गरीब और अविकसित राष्ट्रों का विकास नहीं कर पायें तो समृद्ध और विकसित राष्ट्र बहुत लम्बे समय तक अपने विकास को यथावत् नहीं रख पायेंगे । इसलिए सभी राष्ट्र, सभी व्यवस्थाएं, सभी विचारधाराएं विश्व की विराट् व्यवस्था के अंग हैं। एक साथ रह सकते हैं। अनेकांत दृष्टि कहती है--

- सभी अपना दृष्टिकोण सम्यक् बनाएं।
- समस्या सुलझाने हेतु एक साथ बैठें।
- एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करें।

अतएव अनेकान्त आज विभिन्न क्षेत्रों की युगीन समस्याओं को सुलझाने में समर्थ है। आवश्यकता है इन क्षेत्रों में अनेकान्त के प्रयोग की। समन्वय, सहिष्णुता, सह–अस्तित्व, सापेक्षता आदि दृष्टियां जागतिक समस्याओं का निदान प्रस्तुत करती हैं और आज विश्व–व्यवस्था का झुकाव भी इन्हीं सिद्धान्तों की ओर है। सापेक्षता और सह–अस्तित्व के आधार पर ही परमाणविक युग में मानवता त्राण पा सकती है और विश्व शांति की कल्पना साकार हो सकती

आवश्यक है विचारों व क्रियाओं में सापेक्ष दृष्टिकोण

प्रत्येक वस्तु अनेक विरोधी धर्मों का युगल है। हम अखण्ड वस्तु को जान तो सकते हैं पर उससे हमारा व्यवहार नहीं चल सकता। हम जब वस्तु स्वरूप के बारे में कहते हैं तो वस्तु स्वरूप के प्रत्येक उपयोग के पीछे हमारी अपेक्षा जुड़ी होती है। अपेक्षा न जुड़ी हो तो प्रत्येक वचन व प्रत्येक व्यवहार परस्पर विरोधी हो जाएगा। अपेक्षा दृष्टि से वस्तु एक या अनेक नहीं अपितु एक और अनेक का समन्वय है। वस्तु केवल नित्य या अनित्य नहीं है वरन् नित्यता और अनित्यता का समन्वय है। वस्तु केवल भिन्न या अभिन्न नहीं है अपितु भिन्न और अभिन्न का समन्वय है। यदि इस यथार्थता को समझ लिया जाए तो परस्पर के विरोध आसानी से सुलझाये जा सकते हैं।

अहिंसा के विकास में सापेक्षता का योगदान

हिंसा की जड़ विचारों का विरोध है। वस्तु के जितने पहलू हैं उतने ही सत्य हैं, उतने ही उन सत्यों को कहने के तरीके हैं और जितने कहने के तरीके हैं उतने ही मतवाद हैं। मतवादों का ऐकान्तिक दृष्टिकोण विवादों को जन्म देता है और विवाद हिंसा को। जबकि मतवादों में अनेकांतिक दृष्टिकोण या सापेक्ष दृष्टिकोण समन्वय को जन्म देता है और समन्वय अहिंसा को।

एक वक्ता जो शब्द कहता है, वह शब्द उसने कब, कहां और किन परिस्थितियों में कहा है, उसका क्या उद्देश्य है, किस साध्य की प्राप्ति के लिए वह ऐसा कह रहा है, आदि–आदि बिन्दुओं पर जब तक ध्यान नहीं दिया जाता किसी भी व्यक्ति के विचारों के प्रति न्याय नहीं हो सकता। इसलिए सापेक्षवाद कहता है—प्रत्येक धर्म को अपेक्षा के साथ ग्रहण करो क्योंकि सत्य सापेक्ष है। स्वयं के साथ दूसरों को भी समझने की कोशिश करो। यही बौद्धिक अहिंसा है जो सापेक्ष दृष्टि से ही फलित होती है।

निरपेक्ष दृष्टिकोण—हिंसा का कारण

ऐकान्तिक आग्रह या निरपेक्ष दृष्टिकोण हिंसा का मूल है। यदि हम यह

कहें कि व्यक्ति समुदाय से सर्वथा भिन्न है तो यह वस्तुस्थिति का तिरस्कार होगा तथा पार्थक्यवादी नीति होगी। यदि हम यह कहें कि समुदाय ही सत्य है तो यह व्यक्ति का तिरस्कार होगा और ऐकांतिक सामुदायिक नीति होगी। यदि हम कहें कि व्यक्ति ही सत्य है तो सामुदायिकता का तिरस्कार होगा और ऐकांतिक व्यक्तिवादी नीति होगी। यदि हम कहें कि वर्तमान ही सत्य है तो एकता का तिरस्कार होगा और ऐकांतिक परिवर्तनवादी नीति होगी। यदि हम लिंगभेद और उत्पत्ति भेद को ही सत्य मानें तो यह एकता का तिरस्कार होगा।

इस प्रकार निरपेक्ष या ऐकांतिक दृष्टिकोण सदैव किसी न किसी का तिरस्कार करेगा जो अन्ततः हिंसा को जन्म देगा।

सापेक्षता के सूत्र—

(क) कोई भी वस्तु या व्यवस्था सापेक्षता की मर्यादा से बाहर नहीं है। प्रत्येक वस्तु व व्यवस्था सापेक्ष होती है पूर्ण नहीं।

(ख) दो विरोधी गुण एक वस्तु में एक साथ रह सकते हैं।

(ग) सभी दृष्टिकोण परस्पर विरोधी नहीं है पर सभी दृष्टिकोण सापेक्ष हैं, एक दूसरे के पूरक हैं।

(घ) एकान्त विरोध या एकान्त अविरोध से पदार्थ व्यवस्था संभव नहीं है। विरोध और अविरोध के समन्वय से ही व्यवस्था संभव हो सकती है।

(ङ) जितने एकान्त या निरपेक्षवाद हैं उनमें दोष भरे पड़े हैं तथा परस्पर विनाश करने वाले हैं। अनाक्रमण, अहस्तक्षेप, स्वमर्यादा का अनतिक्रमण, सापेक्षता ये सामंजस्य के सिद्धान्त हैं, जो निरपेक्ष या आग्रही दृष्टि में सापेक्षता और अनाग्रह (समन्वय) को खोजते हैं।

(च) जितने वचन हैं, उतने ही सत्य हैं। प्रत्येक दृष्टि विशाल ज्ञान सागर का अंश है अर्थात् प्रत्येक दृष्टि अपनी–अपनी सीमा में सत्य है।

सापेक्षता के प्रयोग—

1. अध्यात्म जगत् में

अध्यात्म जगत् में कोई भी व्यक्ति किसी भी जीव के प्रति निरपेक्ष नहीं हो सकता। निरपेक्ष होने का अर्थ है जीवों के प्रति क्रूर होना। अध्यात्म जगत् में सापेक्षदृष्टि कहती है सभी प्राणियों की अपेक्षा करो अर्थात् उनके महत्त्व को समझो। उनकी हिंसा मत करो, उनकी हिंसा मत करवाओ और दूसरा यदि उनकी हिंसा करता है तो उसका अनुमोदन भी मत करो।

2. सामाजिक क्षेत्र में

समाज में हमें वैषम्य देखने को मिलता है क्योंकि समत्व का विकास नहीं है। समत्व दृष्टि कहती है—जिस तरह तुम्हें दुःख अप्रिय है उसी तरह सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है। बाहरी आवरणों का भेद होने पर भी सब जीवों का भीतरी जगत् एक जैसा है। सभी जीवों में आत्मा समान है। सभी जीवों में सामर्थ्य की दृष्टि से ज्ञान समान है। उसका विकास भिन्न-भिन्न है। सामर्थ्य की दृष्टि से शक्ति सभी जीवों में समान है पर उसका विकास भिन्न-भिन्न है। इसलिए किसी भी जीव को उच्च या निम्न कहने का अधिकार हमें नहीं है।

व्यक्ति और समाज में कभी व्यक्ति को महत्त्व दिया जाता है तो कभी समाज को। यदि अपेक्षा को समझ लिया जाए तो यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि कब व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाएगा और कब समाज को। और यदि व्यक्ति या समाज के प्रति ऐकान्तिक आग्रह ही रहेगा तो वह खिंचाव पैदा करेगा।

समाज का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—"परस्परोपग्रहो जीवानाम्" जो अनेकांत द्वारा ही फलित होता है। समाज का हर व्यक्ति एक दूसरे को उपकृत करे। ऐसा सापेक्ष दृष्टिकोण न शोषण को जन्म देगा, न अपराध को और न हिंसा को। निरपेक्ष दृष्टि कहती है—कोई व्यक्ति मरे या जीए, भूखा रहे या न रहे इससे दूसरे व्यक्ति को कोई मतलब नहीं होगा। पर परस्परोपग्रहो जीवानाम् के सिद्धान्त पर चलने वाला व्यक्ति पड़ौसी की परेशानी से भी परेशान होगा।

3. आर्थिक क्षेत्र में

प्रत्येक व्यक्ति में उपार्जन क्षमता है। यह क्षमता हर व्यक्ति की समान नहीं है। इस असमान क्षमता के आधार पर कोई धनी है, कोई गरीब है और उनमें वर्ग भेद है। वर्गभेद समाप्ति के लिए समाजवाद का विकास हुआ पर उसमें दायित्व का बोध नहीं। पूंजीवाद में वैयक्तिकता का विकास है पर उसमें स्वार्थ व शोषण वृत्ति पनपती है। इन सब समस्याओं का समाधान है—स्वामित्व को सापेक्ष बनाएं। भोग के लिए इच्छा परिमाण करें अर्थात् स्वामित्व का सीमांकन करें। सापेक्ष स्वामित्व दोहरी समस्या का समाधान है। एक तो इसमें शोषण वृत्ति बंद रहेगी क्योंकि उचित सीमा के बाद संपत्ति पर उसका अधिकार नहीं होगा एवं उपार्जन की स्वतंत्रता के कारण व्यक्तिगत प्रेरणा भी रहेगी।

4. साम्प्रदायिक कलह के लिए

धार्मिक क्षेत्र सम्प्रदायों की विविधता के कारण असामंजस्य की रंगभूमि रहे हैं। सापेक्षवाद कहता है—सभी धर्मों में सत्यांश है। समाज व्यवहार या दैविक व्यवहार की दृष्टि से वैदिक धर्म ठीक है। अहिंसा या मोक्षमार्ग की दृष्टि से जैन धर्म ठीक है। श्रुतिमाधुर्य व करुणा की दृष्टि से बौद्ध धर्म ठीक

है। धर्म उपासना पद्धति या योग की दृष्टि से शैव धर्म ठीक है। निरपेक्ष पूर्णता हमारी कल्पना है। पूर्णता सदैव मर्यादित होती है।

सर्व-धर्म सद्भाव की दृष्टि से सापेक्षवाद पांच सूत्र देता है—

(१) अपनी मान्यता का प्रतिपादन करें पर दूसरों पर आपेक्ष न करें।

(२) दूसरे के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखें।

(३) दूसरे समुदाय या अनुयायियों के प्रति घृणा या तिरस्कार न हो।

(४) सम्प्रदाय परिवर्तन करने वालों के साथ अवांछनीय व्यवहार न हो।

(५) धर्म के मौलिक तत्त्वों अहिंसा आदि को विश्वव्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न हो।

5. अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में

परिवार, जाति, समाज, राष्ट्र, विश्व ये सभी क्रमिक संगठन हैं। संगठन का अर्थ है—सापेक्षता। बिना सापेक्ष दृष्टिकोण के कोई भी संगठन अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। उदाहरणतः एक राष्ट्र दूसरे पर प्रभुत्व जमाना चाहता है—परिणाम होगा—संघर्ष, अशांति। वैयक्तिक, जातीय, सामाजिक, राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय सापेक्षता समता, सामीप्य, व्यवस्था, स्नेह, शक्तिवर्द्धन, मैत्री व शांति को जन्म देगी।

निरपेक्ष दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सदैव विषमता पैदा करते आये हैं। अधिकतम व्यक्तियों के लिए अधिकतम सुख के निरपेक्ष दृष्टिकोण ने ही हिटलर को यहूदियों पर अत्याचार का अवसर दिया। बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों तथा बड़ों के लिए छोटों का बलिदान भी निरपेक्ष दृष्टि का ही फल है। सापेक्ष नीति कहती है—किसी के लिए किसी का अनिष्ट नहीं किया जा सकता। बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों की बलि नहीं दी जा सकती। इसी तरह रंग भेद, विचार भेद, व्यवस्था भेद आदि को भी ऐकांतिक या निरपेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आज विश्व स्वयं सहअस्तित्व के विचार की तरफ बढ़ रहा है, सापेक्षता की तरफ बढ़ रहा है। क्योंकि परमाणविक युग में यही उसका प्राण है। विकसित राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों से निरपेक्ष रहकर अपना अस्तित्व दीर्घकाल तक नहीं बनाए रख सकते, उनकी स्वयं की समृद्धि ही उन्हें लील जाएगी। इसलिए विकसित राष्ट्रों ने अविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों की सापेक्षता को स्वीकार किया है तथा उनके विकास में सहयोग प्रदान करने की इच्छा प्रकट करते हैं।

वर्ग-विग्रह का समाधान : सहअस्तित्व

यह जगत् द्वन्द्वात्मक है। द्वन्द्वात्मक जीवन एक सच्चाई है जो यह बताती है कि विरोधी धर्मों को एक साथ रहना ही चाहिए। विरोधी युगलों का सहअस्तित्व संभव है क्योंकि उनमें सर्वथा विरोध नहीं है, समन्वय के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं। जैन दर्शन के अनुसार अनन्त आत्माएं हैं और सभी आत्माएं एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं। जैसे अनेक आत्माएं हैं वैसे ही उनकी योनियां अर्थात् उत्पत्ति स्थान भी अनेक हैं। कोई आत्मा पशु है, कोई मनुष्य। मनुष्य जाति में भी विभाजन है। कोई गोरा है, कोई काला है। कोई उष्ण कटिबन्धीय है कोई शीत कटिबन्धीय आदि-आदि। महावीर के युग में वर्ण व्यवस्था का प्रचलन था। उस व्यवस्था में मनुष्य जाति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों में विभाजित थी। यह विभाजन मनुष्य के संस्कार, भौगोलिक वातावरण व समाज व्यवस्था के आधार पर था। मनुष्य के अहंकार के कारण उच्चता व निम्नता की दीवारें खड़ी हो गईं और जन्मना जाति स्थापित हो गई। उच्च कहलाने वाले लोग हीन कहलाने वाले लोगों के साथ दुर्व्यवहार करने लगे। महावीर ने सोचा—जब वस्तु जगत् में सहअस्तित्व और समन्वय है तो मनुष्यों में क्यों नहीं? इस आधार पर मैत्री का संदेश दिया गया—सब जीवों के साथ मैत्री करो। पर स्वभाव, रुचि और चिन्तन-धारा भिन्न होने के कारण मैत्री टूट जाती है। मैत्री को साधने का सूत्र दिया—सहिष्णुता का प्रयोग करो।

सह-अस्तित्व का आधार

महावीर ने कहा—भेद में छिपे अभेद को देखो। तुम जिससे जितने भिन्न हो, उतने ही अभिन्न भी हो और जिससे अभिन्न हो, उससे उतने ही भिन्न हो। जब सभी प्राणियों से भिन्न और अभिन्न हो, तब भेद मानकर किसी को शत्रु क्यों मानते हो? जिसे तुम नीच मानते हो, वह भी तुम्हारे मन का अहंकार है और जिसे तुम उच्च मानते हो, वह भी तुम्हारे मन का अहंकार है। इसलिए विभाजन के साथ उच्चता और नीचता की रेखाएं निर्मित न करो। मनुष्य को

तोड़कर मत देखो। मानवीय एकता को मत भूलो। यही सहअस्तित्व का मौलिक आधार है।

एकता अनेकता से पृथक् नहीं है और अनेकता एकता से पृथक् नहीं है। इसी धरातल पर मानवीय एकता संभव हो सकती है। इसी आधार पर भिन्न-भिन्न प्रणालियां एक साथ चल सकती हैं। अनेकता स्वाभाविक है पर शांतिपूर्ण जीवन जीने के लिए सहअस्तित्व अनिवार्य है।

आज सहअस्तित्व को ही समस्याओं का समाधान माना जा रहा है। पर दूसरों के स्वत्व को, आत्मसात् करने की भावना को त्यागे बिना सहअस्तित्व संभव नहीं है। एक व्यक्ति, जाति या राष्ट्र जब दूसरों के स्वत्व को हड़प जाना चाहते हैं, तब सहअस्तित्व कैसे संभव हो। सहअस्तित्व के लिए आवश्यक है— स्व का हरण नहीं हो। आज विचारशील व्यक्ति व राष्ट्र दूसरों के स्वत्व से बने विशाल स्वरूप को छोड़कर अपने स्वरूप में सिमटते जा रहे हैं, यही सामंजस्य की रेखा है और यही वर्ग-विग्रह व अन्तर्राष्ट्रीय-विग्रह की समापन रेखा है।

सहअस्तित्व के प्रयोग

1. पारिवारिक जीवन में—पारिवारिक जीवन तभी सफल हो सकता है जब पारिवारिक सदस्यों का शांत सहवास हो। पारिवारिक कलह के लिए पीढ़ीगत भिन्नता, वैचारिक भिन्नता, स्तर की भिन्नता आदि अनेक कारण बनते हैं। फिर भी दो पीढ़ी के लोग, दो विचार के लोग व दो भिन्न जीवन स्तर के लोग एक साथ शांति से रह सकते हैं यदि वे उस भिन्नता में कोई अभिन्नता का बीज खोज लें। यद्यपि पग-पग पर टकराहट है, स्वार्थ है, भिन्नताएं हैं, विरोध हैं पर इनमें समन्वय का प्रयोग करें। विरोध किस जगह नहीं होता। अपेक्षा है समन्वय की। यदि विरोध या भिन्नता में समन्वय खोजें तो इन विरोधों व भिन्नताओं के बावजूद सहअस्तित्व संभव हो सकता है।

2. सामुदायिक जीवन में—समाज में हमें वैषम्य देखने को मिलता है क्योंकि समत्व का अभाव है। स्वार्थ, मान्यताएं और असहिष्णुता— इन वृत्तियों पर शासन करने वाला ही समन्वय का विकास कर सकता है। पुराने समय में साम्प्रदायिक और जातीय ये दो प्रकार के संघर्ष थे। आज के समाज में वर्ग-संघर्ष है। वर्ग-संघर्ष तब तक नहीं मिट सकता, जब तक स्वार्थ की वृत्ति खत्म न हो। हम स्वार्थ से ऊपर उठकर यह सोचें कि छोटे-बड़े सभी मनुष्यों में एकता

है, समानता है। इसलिए हम एक साथ रह सकते हैं। सहअस्तित्व से ही समाज सुन्दर बन सकता है।

विश्वशांति और सहअस्तित्व

आज राजनैतिक क्षेत्र में सहअस्तित्व की ध्वनि मुखर हो रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ भी इसके लिए प्रयास कर रहा है। और यह संगठन सहअस्तित्व का एक अच्छा उदाहरण भी है। क्योंकि यहां परस्पर विरोधी राष्ट्र एक साथ बैठकर विश्व की ज्वलन्त समस्याओं पर विचार-विमर्श करते हैं।

आज के परमाणविक युग में जब हिंसा समग्र हो गई है और हमारे पास केवल दो ही विकल्प हैं—या तो हम अहिंसा व विश्वशांति को अपना लें या फिर महाविनाश के लिए तैयार हो जाएं। हिंसा की समग्रता ने सहअस्तित्व की धारणा को और अधिक पुष्ट किया है। भिन्नता से लड़ाई कब तक करते रहेंगे। युद्ध से तो यह मानव जाति ही समाप्त हो जाएगी। मनुष्य जाति को जीना है तो उसका एकमात्र मार्ग है—सहअस्तित्व।

प्रमुखता की दृष्टि से सभी राष्ट्र स्वतंत्र हैं पर सामर्थ्य की दृष्टि से समानता नहीं है। कोई राष्ट्र शक्तिशाली है, तो कोई कमजोर। कोई समृद्ध है, कोई गरीब। सभी राष्ट्रों में कुछ साम्य भी और कुछ वैषम्य भी। यदि वैषम्य को प्रधान मानें तो दूसरों को मिटाने की बात आएगी और केवल साम्य को प्रधान मानें तो भी ऐकान्तिक आग्रह होगा और उसका परिणाम होगा—शीतयुद्ध। महावीर ने कहा—विरोधी युगलों का सहअस्तित्व संभव है क्योंकि उनमें सर्वथा विरोध नहीं है। इसी विचार के आधार पर पूंजीवाद और समाजवाद एक साथ रह सकता है। लोकतंत्र व एकतंत्र एक साथ रह सकता है। क्योंकि विरोधी प्रणालियों में सहअस्तित्व है।

सह-अस्तित्व के तीन सूत्र

सहअस्तित्व के विकास के लिए ये तीन सूत्र सुझाये जाते हैं—

1. आश्वासन—एक-दूसरे के प्रति आश्वस्त हों। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रति, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के प्रति। अन्यथा आशंकाएं, शीतयुद्ध व संघर्ष को जन्म देगी।

2. विश्वास—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रों और विशेषकर महाशक्तियों के बीच अविश्वास की जड़ें गहरी हो गईं, उसका परिणाम हुआ—शीतयुद्ध। सहअस्तित्व के लिए अपेक्षित है एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का व एक राष्ट्र दूसरे

राष्ट्र का विश्वास करे।

3. अभय—अविश्वास शस्त्र-विस्तार को जन्म देता है, जबकि विश्वास अभय को जन्म देता है। अभय से निशस्त्रीकरण संभव है।

सहअस्तित्व के ये तीनों सूत्र परस्पर जुड़े हुए हैं। आश्वासन से विश्वास पैदा होगा और विश्वास से अभय। उदाहरणतः यदि परमाणु संधि होती है तो वह विश्व को एक आश्वासन होगा, उससे विश्व के राष्ट्रों में विश्वास का वातावरण बनेगा और नागरिक अभय हो जायेंगे।

अतः शांतिपूर्ण जीवन या शान्त-सहवास के लिए सहअस्तित्व का सूत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जैनों का एक प्रसिद्ध वाक्य है—परस्परोपग्रहो जीवानाम्। प्रकृति का नियम है कि हम परस्पर एक-दूसरे का सहारा बनें। हमें विरोध इसलिए है कि हमने सहअस्तित्व के सूत्र को भुला दिया है। संघर्ष प्रकृति का नियम नहीं, आरोपण है, विसंगति है। सहअस्तित्व में सन्तुलन है, संगति है, इसलिए विरोधी तत्त्वों का भी सहअस्तित्व संभव है। आज यह सूत्र राष्ट्रीय एकता या मानवीय एकता, धार्मिक सहिष्णुता और विश्व-शांति आदि के लिए महत्त्वपूर्ण है। आवश्यक है इसके प्रयोग की। नेहरू ने जब पंचशील के सिद्धान्त में सहअस्तित्व का समावेश किया था, तब इस सूत्र को राष्ट्रों के परस्पर व्यवहार के लिए महत्त्वपूर्ण सूत्र माना गया था, पर उपेक्षा के कारण आज विश्व विनाश के कगार पर है। आज यह सूत्र किसी धर्मनेता का नहीं, बल्कि युग की मांग है।

विकास के लिए आवश्यक है दूसरे के विचारों को सहना

अकेला व्यक्ति संघर्ष नहीं कर सकता। सामुदायिक जीवन में संघर्ष, वैमनस्य, बैर–विरोध आदि देखे जाते हैं। सामुदायिक जीवन में ही वस्तुतः सहिष्णुता की कसौटी होती है। सहिष्णुता सामुदायिक जीवन का अलंकरण है जो सहअस्तित्व और सापेक्षता से ही फलित होती है। सहिष्णुता के बिना सामुदायिक जीवन में विकास नहीं हो सकता, उन्नति नहीं हो सकती। जब तक समाज के विभिन्न वर्ग के लोग संघर्ष करते रहेंगे, एक दूसरे का विरोध करते रहेंगे, स्वार्थ के वशीभूत होकर शोषण करते रहेंगे, भाषा, धर्म, रंग, जाति के आधार पर बंटते रहेंगे, तब तक विकास, वह भी सबका सर्वतोमुखी विकास सम्भव कैसे हो सकेगा? डार्विन ने विकासवाद का सिद्धान्त देते हुए कहा था—वे ही प्रजातियां बचेंगी जिनमें अनुकूलन की क्षमता है अर्थात् वे प्राणी जो परिस्थिति के अनुकूल बन सकेंगे, भविष्य में बचेंगे। सच ही है—शक्तिहीन समाप्त हो जाता है। एक प्राणी दूसरे प्राणी को खत्म करने की कोशिश कर रहा है। अनेकान्त का सिंहनाद है—जो सहता है वही बचता है और शक्तिशाली ही सहन कर सकता है।

दूसरे के विरोधी-विचारों के प्रति सहिष्णुता

समाज में अनेक प्रकार के व्यक्ति रहते हैं, जिनके अनेक विचार हैं। ऐसी स्थिति में विचारों की टकराहट न हो, संघर्ष न हो, यह कैसे संभव हो सकता है? सहअस्तित्व का सिद्धान्त, जिसके बिना सहिष्णुता फलित नहीं होती, के आधार पर विरोधी विचार, विरोधी व्यक्ति, विरोधी धर्मों का सहअस्तित्व हो सकता है। सबसे अच्छा मार्ग है—सहन करना, समन्वय करना और सहअस्तित्व की चेतना को विकसित करना। भिन्नता से लड़ाई आखिर कब तक करते रहेंगे। युद्ध से तो मानव जाति का ही विनाश हो जाएगा। मनुष्य जाति को जीना

है तो उसका मार्ग है सहिष्णुता और सह-अस्तित्व। प्रत्येक व्यक्ति की यह चाह होती है—सब उस जैसा ही व्यवहार करें। विरोधी रुचियों, विरोधी स्वभावों के बीच टकराहट और युद्ध संभव है पर यदि विरोधी विचारों को सहने की क्षमता है तो न केवल युद्ध टाले जा सकते हैं वरन् शांति की दिशा में विकास भी हो सकेगा।

अनेकान्त कहता है—

1. सत्य की सापेक्ष व्याख्या करो। अपने विचार का आग्रह मत करो। दूसरे के विचारों को समझने का प्रयत्न करो।

2. अपने विचारों की प्रशंसा व दूसरे के विचार की निन्दा कर अपने पांडित्य का प्रदर्शन मत करो।

3. प्रत्येक विचार सत्य भी हो सकता है और असत्य भी। इसलिए किसी भी विचार के लिंए निरपेक्ष दृष्टिकोण मत अपनाओ।

सहिष्णुता क्या है?

सहिष्णुता है—असहयोग। विरोधी के साथ न प्रवृत्ति करो, न निवृत्ति करो किन्तु उपेक्षा करो। क्रोध करने वाले के साथ क्रोध नहीं, उसकी उपेक्षा करो।

सहिष्णुता का एक अर्थ है—सहन करके सुधार के लिए अवसर देना। किसी व्यक्ति की तुच्छता को सहन करना उसको बिगाड़ना नहीं, वरन् उसे सुधरने का अवसर देना है। प्रश्न है कि क्या अन्याय को भी सहन करें। अनेकान्त का उत्तर है—अन्याय सहन मत करो पर उसका प्रतिकार सहिष्णुता से हो।

सहिष्णुता का एक अर्थ है—मानसिक शांति। विरोधी विचार व परिस्थितियां व्यक्ति को अशांत करती हैं। अनेकान्त का कथन है—इन विपरीत विचारों, स्थितियों व व्यवस्थाओं को सहन करो तो मानसिक शांति भंग नहीं होगी। और यदि व्यक्ति शांत है तो विश्व शांति भी संभव है।

सहिष्णुता क्यों?

इस संयोग-वियोग की दुनिया में सहिष्णुता ही त्राण है। विरोधी व्यक्तियों, विरोधी विचारों, विरोधी परिस्थितियों के बीच यदि व्यक्ति सदैव प्रतिक्रिया ही करता रहेगा तो अपनी क्षमताओं का उपयोग वह विकास के लिए कब करेगा? इसलिए सहिष्णुता प्रतिक्रिया विरति के लिए आवश्यक है।

समाज व विश्व में परिवर्तन के लिए भी सहिष्णुता आवश्यक है। बिना सहनशीलता के परिवर्तन व बदलाव कैसे आ सकेगा। किसी कार्य को करते

समय—"**कोई क्या सोचेगा**", इस पर ध्यान न देकर "**मुझे क्या करना है**" इस पर ध्यान देना परिवर्तन की क्रियान्विति के लिए कदम उठाना है।

सुविधाओं के विकास के साथ व्यक्ति की सहनशीलता भी समाप्त हो गई है। व्यक्ति में धैर्य नहीं, शक्ति नहीं, सहन करने की क्षमता नहीं, अधीरता है। इसलिए भी सहिष्णुता की अपेक्षा है ताकि सुविधावाद जो अन्ततः हिंसा की ओर धकेलता है, उससे बच सकें।

सहिष्णुता के विकास से ही अनुशासन का विकास संभव है। अनुशासनहीनता की समस्या किसी एक राष्ट्र की नहीं, वरन् पूरे विश्व की है। सहिष्णुता के विकास से अनुशासनहीनता समाप्त होती चली जाएगी। सहिष्णुता व्यक्ति में शक्ति का वर्द्धन भी करेगी जो अन्ततः उसे क्षमा के आदर्श तक पहुंचा सकेगी।

सहिष्णुता का विकास कैसे हो?

सहिष्णुता के विकास के लिए कुछ मार्गदर्शक तत्त्व का प्रयोग भी सम्भव है—

1. संवेगों पर नियन्त्रण करें—विपरीत परिस्थिति के आते ही व्यक्ति संवेगों के भंवर में फंस जाता है। क्रोध या अहंकार जब प्रबल होता है तब व्यक्ति यह भूल जाता है उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए। इसलिए सहिष्णुता के विकास के लिए क्रोध, भय, अहंकार, राग-द्वेष आदि संवेगों पर नियन्त्रण करें।

2. दृष्टिकोण सम्यक् बनाएं—वस्तु सत्य को उसी रूप में जानें। कोई व्यक्ति कब, कहां, कैसे और किन परिस्थितियों में कह रहा है, उसे उसी आधार पर समझने की कोशिश करें अर्थात् यथास्थिति को स्वीकारें।

3. साहसिका—समस्या सुलझाने के लिए एक साथ बैठें। व्यक्तियों के बीच संचार के अभाव में संघर्ष बढ़ जाते हैं। इसलिए उचित संचार के लिए एक साथ बैठकर विचार-विमर्श करें।

4. एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करें।

5. उपवास व सूर्य आतापना से सहनशीलता का विकास संभव है।

6. मस्तिष्क के अग्रभाग व ललाट जिन्हें क्रमशः शांतिकेन्द्र व ज्योतिकेन्द्र कहा जाता है—इन दोनों केन्द्रों पर ध्यान करें फिर क्रमशः दोनों केन्द्रों पर सफेद रंग का ध्यान करें।

7. अनुचिंतन करें—विरोधी विचार, विरोधी स्वभाव, विरोधी रुचि—ये

संवेदन मुझे प्रभावित करते हैं, किन्तु इनके प्रभाव को कम करना है। यदि इनका प्रभाव बढ़ा तो शक्तियां क्षीण होंगी। जितना इनसे कम प्रभावित होऊंगा, उतनी ही शक्तियां बढ़ेंगी। इसलिए सहिष्णुता का विकास मेरे जीवन की सफलता का महामंत्र है।

सहिष्णुता के विकास की भूमिकाएं

1. परिस्थितियों को सहन करना।
2. दूसरे व्यक्तियों को सहन करना।
3. अपने से भिन्न विचारों को सहन करना।
4. राग-द्वेष की तरंगों का सामना कर उन्हें परास्त करना।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सहिष्णुता का विकास न केवल पारिवारिक कलहों को दूर करेगा बल्कि समाज, धर्म, राष्ट्रीयता व अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को भी समाहत कर सकेगा। विशेषतः उन संघर्षों को जो वैचारिक हैं, जो महत्त्वाकांक्षाओं पर आधारित हैं, जो भय की भावनाओं या अविश्वासों के कारण हैं। क्योंकि यह दूसरे के विचारों को सहन करना सिखाता है। महत्त्वाकांक्षाओं व भय के संवेगों पर नियन्त्रण करता है तथा आपसी विचार-विमर्श के द्वारा अविश्वासों को दूर करता है। इसलिए वैचारिक अशांति का महत्त्वपूर्ण निदान है—सहिष्णुता का विकास, दूसरे के विचारों को सहना।

शांति शिक्षा

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में शांति का स्वरूप

विश्वशांति मानव-जाति के अस्तित्व, विकास एवं प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। युद्ध या युद्ध का भय, विकास एवं प्रगति के सभी साधनों को शांतिपूर्ण उपयोग से हटाकार युद्ध या युद्ध की तैयारियों के लिए मोड़ देता है। मानव-इतिहास के रक्तरंजित पृष्ठ युद्ध की भयानकता व विनाशता के जीवन्त उदाहरण है। जब-जब मानवता युद्ध से त्रस्त हुई, तब-तब शांति की अधिकतम आवश्यकता महसूस की गई। बीसवीं शताब्दी से पूर्व विश्वशांति के सामूहिक प्रयास बहुत कम हुए। कलिंग-युद्ध के पश्चात् सम्राट अशोक ने युद्ध का परित्याग कर अहिंसा के मार्ग पर चलने का प्रण किया। बाद मे एशिया, अफ्रीका, यूरोप आदि क्षेत्रों में युद्धोपरान्त जो संधियां हुईं, उनका उद्देश्य द्विपक्षीय विवादों को समाप्त कर क्षेत्रीय शांति कायम करना था। प्रथम विश्वयुद्ध की बीभत्सता को दृष्टिगत रखते हुए युद्ध टालने एवं शांति कायम करने हेतु "लीग ऑफ नेशन्स" की स्थापना हुई लेकिन युद्ध संकट फिर भी न टल सका तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के महाविनाश का सामना करना पड़ा। शाति स्थापना तथा परस्पर विवादों के हल हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों में विश्वशांति तथा सुरक्षा को कायम रखना एवं शांति के लिए उत्पन्न खतरों को सामूहिक सुरक्षा द्वारा रोकना प्रमुख है।

शांति क्या है?

विभिन्न धर्म-दर्शनों एवं राजनीतिज्ञों ने शांति की अलग-अलग व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार "शांति" शब्द का अर्थ है— युद्ध से मुक्ति, दो युद्ध शक्तियों में शांति संधि। अर्थात् युद्ध की समाप्ति तथा युद्धरत राष्ट्रों में संधि कर शांति स्थापित की जा सकती है।

पॉनविट्ज का मत है—"हमारे पास युद्ध के विरुद्ध संभावित कारण हो सकते हैं—जब हम यह नहीं जानते कि शांति क्या है, कैसे हो सकती है, तब तक ये कारण हमारी सहायता कैसे कर सकते हैं?" अर्थात् पॉनविट्ज के अनुसार युद्ध और शांति का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने से पूर्व कई विरोधाभासों का समन्वय करना अनिवार्य है—

1. विगत अनुभवों के आधार पर शांति के सही स्वरूप की समीक्षा।

2. यह जानना कि भविष्य में क्रियात्मक रूप से किस प्रकार शांति स्थापित की जा सकती है तथा

3. श्रेष्ठ प्रकार की शांति की परिभाषा जो अन्ततः प्राप्त करनी है।

क्विंसी राईट के अनुसार—"शांति किसी समाज की वह अवस्था है, जिसमें आंतरिक रूप से इसके सदस्यों तथा बाह्य रूप से इसके अन्य समुदायों के साथ सम्बन्धों में व्यवस्था तथा न्याय का बोलबाला हो।" कुछ समाज-शास्त्रियों जैसे लियोहेमन, जुलेस मॉक आदि ने शांति को "युद्ध न होने" (Warlessness) के रूप में व्याख्यायित किया है। प्रो० गाल्टुंग ने इस दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए शांति से सम्बन्धित दो भिन्न अवधारणाएं दीं—पश्चिमी अवधारणा और पूर्वी अवधारणा। पश्चिमी अवधारणा के अनुसार युद्ध या आयोजित सामूहिक हिंसा का अभाव शांति है। तनाव, शोषण और संरचनात्मक हिंसा के अभाव को भी शांति कहा जा सकता है। शांति से सम्बन्धित इन विचारों को निषेधात्मक शांति की संज्ञा दी जाती है। इसलिए शांति के दूसरे पक्ष भावात्मक शांति पर भी विचार अपेक्षित है।

भारतीय शांति चिन्तक सुगतदास के अनुसार सामाजिक और मानवीय विकास की प्रक्रिया को भावात्मक शांति कहा जा सकता है। उनके अनुसार शांति का यह अर्थ गांधी ने प्रारम्भ किया था पर उन्होंने शांति के प्रतिपक्ष हिंसा की व्याख्या पहले की थी। हिंसा से उनका अर्थ केवल शक्ति प्रयोग, खूनी क्रांति आदि ही नहीं, पर सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक शोषण भी है। भले ही यह शोषण एक राष्ट्र के द्वारा किसी दूसरे राष्ट्र का किया जाय या एक व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति का या किसी पुरुष द्वारा स्त्री का शोषण किया जाय। जबकि शांति का रचनात्मक या भावात्मक स्वरूप है—समाज व मनुष्य का समग्र विकास, एकता, सहयोग और स्थिरता। इसलिए एक तरफ तो समाज में हिंसा व शोषण रुकना चाहिए, जबकि दूसरी तरफ

मनुष्य व समाज का समग्र विकास भी होना चाहिए। यही शांति का समग्र रूप है। शांति का केन्द्र मानवीय मस्तिष्क है, इसलिए अंतिम रूप से शांति व्यक्ति को महसूस होनी चाहिए। एक व्यक्ति जब शांति की अवस्था में होगा, तब वह केवल अवरोधों व तनावों से ही स्वतंत्र नहीं होगा, वरन् भावात्मक रूप से सन्तुष्टि व आनन्द का भी अनुभव करेगा। इसलिए शांति का न्यूनतम रूप है–प्रत्यक्ष और संरचनात्मक हिंसा का अभाव और अधिकतम रूप है–पूर्ण शांति। संक्षेप में गाल्टुंग के विचारों के आधार पर शांति का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है–

1. युद्ध या संगठित रूप से सामूहिक हिंसा का अभाव।

2. नकारात्मक शांति–हिंसा के साथ हिंसात्मक सम्बन्धों का अभाव तथा शांतिपूर्ण सहअस्तित्व जिसका प्रमुख आधार हो।

3. सकारात्मक शांति जिसमें परस्पर सहयोग हो पर कभी-कभी हिंसा की घटनाएं सम्भव हैं।

4. अनक्वालीफाईड पीस, जिसमें हिंसा की पूर्ण अनुपस्थिति परस्पर सहयोग के साथ सम्बन्धित हो।

शांति के प्रति दृष्टिकोण

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों एवं प्रतिरक्षा सम्बन्धी साहित्य में युद्ध के विकल्प एवं शांति के प्रति दृष्टिकोणों पर कई प्रस्ताव सुझाये गये हैं। इनमें से कुछ युद्ध के कारणों को जानने तथा कुछ अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से हल करने पर बल देते हैं जबकि कई विभिन्न प्रकार की सुरक्षा नीतियों एवं उपायों की खोज को महत्त्व प्रदान करते हैं। निम्नांकित तीन दृष्टिकोण अधिकांशतः शांति दृष्टिकोणों के रूप में मान्य हैं–

1. संस्थात्मक दृष्टिकोण
2. कार्यात्मक दृष्टिकोंण
3. आरोग्यकर दृष्टिकोण

संस्थात्मक दृष्टिकोण

शांति स्थापित करने के लिए संस्थाओं का प्रावधान 20 वीं शताब्दी से पूर्व नहीं था। संस्थाओं द्वारा शांति स्थापित करना तथा उसे कायम रखने की प्रक्रिया का विकास इसी शती की देन है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय स्तर पर विभिन्न संस्थाओं का उदय हुआ, जिनका

मुख्य उद्देश्य था विश्वशांति कायम रखना। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अतिरिक्त विभिन्न देशों के मध्य अनेक संधियों के सम्पन्न होने के परिणाम स्वरूप कई क्षेत्रीय संस्थाओं का भी उदय हुआ। इन संस्थाओं ने स्थानीय विवादों का शांतिपूर्ण वार्ताओं द्वारा निपटारा कराकर शांति के लिए निरापद मार्ग प्रशस्त करने में काफी योगदान दिया है। मूलतः इनकी सफलता इनके उपयोग पर निर्भर है।

कार्यात्मक दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण सुरक्षा संगठनों को स्थापित करने की अपेक्षा सामान्य हितों तथा आत्मनिर्भरता पर बल देता है। पॉमर एवं परकिन्स के अनुसार—इस दृष्टिकोण का लक्ष्य है—राष्ट्रों के मध्य सहयोग बढ़ाना, जो राजनैतिक स्तर पर लगभग दुर्लभ है।......दूसरी तरफ राष्ट्र आर्थिक, सामाजिक तथा तकनीकी क्षेत्रों में परस्पर साथ मिलकर कार्य करने के इच्छुक हैं—ऐसा सहयोग न केवल मूल्यवान है, अपितु इसके द्वारा ऐसा वातावरण तैयार करने में सहायता मिलती है, जिससे राष्ट्रों एवं व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बांधा जा सकता है।

आरोग्यकर दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण दूरगामी है, जिसके अन्तर्गत गरीबी, भुखमरी, अकाल, जातीय एवं वर्ग शोषण इत्यादि आर्थिक एवं सामाजिक बुराईयों पर सुनियोजित आक्रमण किया जाता है। इन कार्यों के लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय एजेन्सियों का ही सहयोग लिया जाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि चिरस्थायी शांति हेतु आरोग्यकर दृष्टिकोण ही उपयुक्त है क्योंकि इसी दृष्टिकोण के द्वारा राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याएं जो युद्ध या तनाव को जन्म देती है, को स्थानीय स्तर पर ही हल करके अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को चिरस्थायी बनाया जा सकता है।

शांति शिक्षा—सिद्धान्त और विकास

शांति शिक्षा की आवश्यकता

वर्तमान में शांति शिक्षा की अभिरूचि केवल शांति और युद्ध की समस्या तथा राजनैतिक संघर्षों तक ही सीमित है। शांति की नवीन परिभाषा के अनुसार युद्ध या हिंसा,राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में सतत विद्यमान है। क्योंकि कुविकास (Mal development) गरीबी, आंतरिक हिंसा और युद्ध में एक निकट सम्बन्ध देखा जा सकता है। इसलिए युद्ध विरोधी साधनों का विकास व खोज आवश्यक है। इन युद्ध विरोधी साधनों का उद्देश्य केवल युद्ध और हिंसा को समाप्त करना नहीं है अपितु सभी प्रकार की हिंसा और समाज में सभी स्तरों में व्याप्त समी प्रकार के शोषण को समाप्त करना है। इसलिए शांति शिक्षा का आन्दोलन वस्तुतः सम्पूर्ण व मूलभूत परिवर्तन का है। अहिंसा, हिंसा का विरोध मात्र नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की सम्पूर्ण शक्ति है। इस प्रकार शांति शिक्षा का विचार नये समाज के निर्माण के लिए है। शांति शिक्षा में शांति के इस नवीन संप्रत्यय को सम्मिलित करना होगा। जिससे समाज परिवर्तन के साथ अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तन व कलह-शमन भी सम्भव हो सके।

शांति शिक्षा के विचार का विकास

पाश्चात्य जगत् में शांति शिक्षा का विचार सर्वप्रथम कोमेनियस ने 1667 में प्रकाशित अपनी पुस्तक ,एंजेल ऑफ पीस में रखा था। बाद में रूसो शांति शिक्षा के विकास में मील के पत्थर बने। उनके शांति शिक्षा सम्बन्धी विचार का आधार था—"मनुष्य स्वभाव से शांतिप्रिय है, जब उसे अपने जीवन पर कोई खतरा नजर आता है, तभी वह हिंसक बनता है।" रुसो के पश्चात् पेस्टालॉजी व फ्रोबल ने शांति शिक्षा को एक नई दिशा दी। फ्रोबल का मानना था—बच्चे की प्रारम्भिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण तथ्य शांति शिक्षा है। वयस्कों के लिए जीने का शांतिपूर्ण तरीका हो, जिससे भाषा, विचार और क्रिया के बीच सामंजस्य स्थापित हो सके। 19 वीं शताब्दी में शांतिशिक्षा समाजवाद

से प्रभावित हुई। मार्क्स, लेनिन आदि समाजवादियों ने कहा—शिक्षा सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए होनी चाहिए। 20 वीं शती में शांतिशिक्षा को अमेरिका में विकासशील शिक्षा (Progressive Education) तथा सोवियत संघ में स्वतंत्र शिक्षा (Free Education) की संज्ञा दी गई।

प्रथम विश्वयुद्ध के पहले शांति शिक्षा का विषय नहीं था। 1890 में केवल नीदरलैण्ड में इसे पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया था, जहां मोल्केनबोवर ने इसे अध्यापकों को पढ़ाने के लिए कहा। बाद में ब्रूमन, मॉण्टेसरी, बैकमेन, डेसबर्ग आदि कई शिक्षाशास्त्री शांति शिक्षा से जुड़े। ये सभी शिक्षाशास्त्री नीदरलैण्ड की शांति शिक्षा से प्रभावित थे। इसी समय शांति शिक्षा के साथ-साथ शांति के लिए शिक्षा का विचार भी सामने आया। शांति शिक्षा का अर्थ है—शांति स्थापित करने के लिए लोगों को शिक्षित-प्रशिक्षित करना। शांति के लिए शिक्षण का उद्देश्य है—युद्ध व शस्त्रीकरण का समाज पर क्या दुष्परिणाम होगा, इससे सम्बन्धित जानकारी लोगों को बताना तथा उन दुष्परिणामों को दूर करने के उपायों को सुझाना। शांति के लिए शिक्षण के तीन मुख्य प्रतिनिधि हुए हैं—फोयरस्टीर, मॉण्टसरी व ओएस्टरिच, जिन्होंने शांति शिक्षण का विकास किया।

फोयरस्टीर का मानना था—"मनुष्य अपने प्राकृतिक स्वभाव का दमन कर आध्यात्मिक उत्थान का प्रयत्न करता है। आध्यात्मिक उत्थान तभी सम्भव हो सकता है जब वह विश्वात्मा से मिल जाय, इसके लिए शांति शिक्षा प्रभावी है क्योंकि शांति का अर्थ ही है—विश्वात्मा के समकक्षता।" मॉण्टसरी का मानना था—"बच्चे का निर्माण तो स्वयं होता है। शिक्षा का कर्तव्य बस इतना ही है कि वह उस निर्माण में जो बाधाएं आयें, उसे दूर कर दें।" अर्थात् एक ऐसा पर्यावरण तैयार कर देना, जिसमें बच्चा स्वयं के सिद्धान्तों के आधार पर अपना निर्माण व विकास कर सके। ओएस्टरिच का मानना था—"शांति केवल संस्कृति के पुनर्निर्माण से ही सम्भव हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति इस संस्कृति का एक घटक है। व्यक्तिगत स्तर पर वह एक अंश दिखाई देगा जबकि समूह में भाईचारे व मानवीयता की भावना विकसित होगी जो उत्पादक और सम्पूर्ण शिक्षा से ही आएगी तथा ऐसी शिक्षा शांतिपूर्ण होगी।" उन्होंने यह भी कहा—शांति शिक्षा, यह एक पुनरुक्ति है। सही शिक्षा, सभी के लिए, सभी लोगों में—यही तो शांति का आदर्श है।"

शांति शिक्षा के विकास में ड्यूवी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। ड्यूवी ने कहा—"वह वातावरण जिसमें शिक्षा ली जाती है, शिक्षा की गुणवत्ता पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालती है। शांति शिक्षा तो हमारे जीवन जीने का रास्ता होना चाहिए। समाजवादी विचारकों में केवल टॉलस्टाय ने ही शांति शिक्षा के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण प्रभाव छोड़ा। उन्होंने कहा—"एक व्यक्ति स्वयं में आस्था, नैतिकता, भाईचारे व शांति के लिए ही शिक्षित होना चाहिए।"

शांति शिक्षा का जो स्वरूप वर्तमान में है, उसका विकास द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हुआ है। 1945 के पश्चात् शांति शिक्षा में तीन मुख्य बातें जुड़ी—

1. अन्तर्राष्ट्रीय समझ विकसित करने के लिए शिक्षा
2. राजनैतिक शिक्षा एवं
3. वैशविक शिक्षा

अन्तर्राष्ट्रीय समझ को शांति शिक्षा में सम्मिलित करने का विचार यूनेस्को के प्रयत्नों से सम्भव हुआ। राजनैतिक शिक्षा का विचार 1960 में कोरिया और वियतनाम के युद्धों के परिणाम स्वरूप सामने आया। वैशविक शिक्षा का विचार प्रो० गाल्टुग एवं फैरी के इस सिद्धान्त से विकसित हुआ—"शांति शक्ति के समान बंटवारे व संसाधनों के समान बंटवारे के बिना कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती।"

शांति शिक्षा सम्बन्धी विचार को भारतीय वाङ्मय के आधार पर इस रूप में रखा जा सकता है—विश्वशांति तभी सम्भव है, जब प्रत्येक व्यक्ति अपने मन-मस्तिष्क को इस हेतु तैयार करे और ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब व्यक्ति के शरीर, मन, भाव और भाषा के बीच सही समन्वय हो अर्थात् सम्पूर्ण मानव का निर्माण हो।

अन्तर्राष्ट्रीय समझ के लिए शिक्षा

यद्यपि इस विचार का उद्‌गम 1940 से पूर्व ऐसे संगठनों में हो चुका था जो अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के क्षेत्र में कार्यरत थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् शांति के प्रति आदर्शों को व्यवहार में लाने हेतु नये संगठनों (Friendship among children and youth एवं American Friends School Affiliation Service) का उदय हुआ। पुराने प्रतिद्वन्द्वी फ्रांस और फैडरल जर्मनी के बीच शांति की शुरूआत के लिए पैस क्रिस्टी (Pase Chiristi) ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन संगठनों का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय समझ को विकसित

करना था, जिससे विश्व और अधिक शांतिपूर्ण हो सके।

1974 में यूनेस्को ने अन्तर्राष्ट्रीय समझ, सहयोग और शांति के लिए शिक्षा तथा मानवाधिकार एवं मूलभूत स्वतंत्रता से सम्बन्धी शिक्षा को अनुशंसित किया, जो शांति शिक्षा के प्रति एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कदम था।

राजनैतिक शिक्षा

शांति शिक्षा के विकास का दूसरा कदम शीतयुद्ध, कोरिया संकट एवं वियतनाम संकट के प्रतिक्रिया स्वरूप उठाया गया, जिसका पूर्ण विकास 1970 में हुआ तथा राजनैतिक शिक्षा की स्वीकृति हुई। यद्यपि शिक्षाशास्त्रियों द्वारा शांति शिक्षा के विचार को गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया गया। अधिकांश लोगों की मान्यता थी– शांति राज्य का मामला है, इसलिए सरकार से सम्बन्धित है।

अन्तर्राष्ट्रीय समझ के प्रति घटती आशा के बांवजूद परमाणु शस्त्रों के खतरे एवं शांति आन्दोलनों के अनुभव–इन दो तत्त्वों ने शांति शिक्षा के इस नये स्वरूप को उजागर किया। नये स्वरूप के विचार में यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अनुभव था कि शांति की दिशा में संरचनात्मक परिवर्तन राजनैतिक परिवर्तनों का परिणाम है।

शांति शिक्षा के इस संप्रत्यय का प्रबल पक्षधर गियासेकी (Giesecke) था जिसने 1960 में अपना सिद्धान्त विकसित कर समाज के सभी स्तरों के मूलभूत प्रजातंत्रीय ढांचे पर बल दिया। गियासेकी ने अपने सिद्धान्त के व्यावहारिक रूप को व्याख्यायित करते हुए शांति शिक्षा के निम्न उद्देश्यों की चर्चा की–

1. संघर्षों को विश्लेषित करना सीखना।
2. सामाजिक सन्दर्भों में संघर्षों का परीक्षण करना।
3. ऐतिहासिक चेतना को उभारना।
4. राजनैतिक सहभागिता के अनुभव का चातुर्य प्राप्त करना।

वैशविक शिक्षा

1970 के पश्चात् यह विचार सामने आया कि सत्ता के समान खण्ड एवं संसाधनों के समान बंटवारे के बिना शांति कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती। यह विचार जो न्याय व संरचनात्मक हिंसा के विश्लेषण पर आधारित था– शांति शिक्षा के क्षेत्र में एक नया विकास था, इसे ही वैशविक शिक्षा का नाम दिया गया।

गाल्टुंग के विचार में वैशविक शिक्षा राष्ट्रों के बीच रचनात्मक सहयोग पर बल देती है तथा अत्याचारियों द्वारा आरोपित प्रतिस्पर्धा एवं विरोधों को समाप्त करती है। इसी सन्दर्भ में फ्रेयरी (Freire) का कहना है—मनुष्य विश्व को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने तथा बदलने के लिए स्वयं इससे अलग हो सकता है तथा इस आलोचनात्मक दृष्टि तथा स्वयं चेतना के आधार पर स्वयं अपने विश्व की रचना कर सकता है।

गाल्टुंग व फ्रेयरी के इन्हीं विचारों पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय शांति-शोध एसोसियेशन के शांति-शिक्षा कमीशन ने ऐसे लोगों से संचार की एक कार्य-योजना तैयार की है जो इस अत्याचार की प्रक्रिया के अंग है। नेपल्स, बैंगलोर, न्यूयार्क, अमस्टरडम, मेलबोर्न की गन्दी बस्तियों में रह रहे लोग अत्याचार के इस तंत्र के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं तथा अपनी स्थितियों को सुधारने हेतु संगठन एवं संचार का प्रयत्न कर रहे हैं। इसके कार्यों में नेपल्स व बैंगलोर के संगठन सहायता व मार्गनिर्देशन कर रहे हैं।

शांति शिक्षा—सैद्धान्तिक प्रस्ताव

शांति शिक्षा के मुख्यतः तीन सैद्धान्तिक प्रस्ताव हैं—

1. शांति शिक्षा की वैद्यता।
2. शांति शिक्षा एवं निःशस्त्रीकरण शिक्षा।
3. शांति और शांति शिक्षा की दुविधाएं।

शांति शिक्षा की वैद्यता

यह शांति शिक्षा की औचित्यता का दृष्टिकोण है जो शांति शिक्षा की विषय-वस्तु व व्यवहार के अन्तर पर निर्भर है। इसमें निम्नांकित सिद्धान्त सम्मिलित हैं—

(अ) इस प्रकार की शांति शिक्षा हिंसा का विरोधकर सैनिक विरोधी अभिवृत्ति का निर्माण करती है तथा युद्ध सम्बन्धी खेल, खिलौनों तथा हिंसक प्रचार का निषेध करती है।

(ब) यह आक्रामकता को कम करने हेतु इसके कारणों का पता लगाकर, इन पर कैसे काबू पाया जाए ताकि समाज को कम से कम क्षति हो, इसकी प्रक्रिया सिखाती है।

(स) यह संघर्ष को शांति शिक्षा का अंग मानती है तथा इसका लक्ष्य लोगों को यह बताना है—संघर्ष मानव-समूहों और समाज का एक महत्त्वपूर्ण

घटक है। संघर्ष का भय व्यक्ति को निषेधात्मक परिणामों की तरफ ले जाता है। शांति शिक्षा लोगों को यह बतलाए कि संघर्ष से कैसे निपटा जाए?

(द) पूर्वाग्रहों तथा शत्रु के प्रति विरोधात्मक रवैये को समाप्त कर व्यक्तियों व संस्कृतियों के प्रति स्वस्थ-समझ को विकसित करना।

(य) प्रत्येक राष्ट्र द्वारा स्वयं अपने ही हितों की पूर्ति युद्ध का एक प्रमुख कारण है। इस समस्या के निराकरण हेतु विश्व नागरिकता को प्रोत्साहन तथा विश्व सरकार को राज्यों द्वारा अपनी-अपनी संप्रभुता सौंप देना आवश्यक है।

(र) इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत व्यक्ति स्वयं युद्ध और शांति के लिए कार्य कर सकते हैं। वे सत्ता व प्रभाव के उन क्षेत्रों को उखाड़ फेंके जो अशांति पैदा करते हैं तथा वे अपनी रचनात्मक सहभागिता, सहयोग, आत्मविश्वास एवं ज्ञान से समाज में परिवर्तन करें।

शांति शिक्षा और निःशस्त्रीकरण शिक्षा

(अ) **आदर्शवादी संकल्पना**—इस विचार का विकास यूनेस्को के उस घोषणा-पत्र से हुआ, जिसमें यह कहा गया है—"युद्ध मानव-मस्तिष्क में जन्म लेते हैं।" वर्तमान अशांतिपूर्ण स्थितियों, जिनमें राष्ट्र सुरक्षा हेतु बड़े पैमाने पर शस्त्रीकरण करते हैं, का समाधान वर्तमान पीढ़ी के विचारों में शांतिपूर्ण भविष्य हेतु क्रमशः रूपान्तरण है। यह एक आदर्शवादी सिद्धान्त है जिसका विश्वास है—सहिष्णुता तथा परस्पर स्वीकृति के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों से पैदा होने वाली अशांति की जगह शांतिपूर्ण भविष्य का निर्माण किया जा सकता है।

(ब) **वैज्ञानिक संकल्पना**—इस सिद्धान्त के अनुसार युद्ध के कारणों तथा शस्त्रीकरण के समूचे तंत्र से सम्बन्धी वैज्ञानिक शोध के निष्कर्षों को स्कूल के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना चाहिए तथा यदि सम्भव हो तो पूर्व और पश्चिम दोनों में एक समान पाठ्य-पुस्तकें तथा अध्यापन सामग्री हो।

(स) **वैचारिक संकल्पना**—इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा समाज परिवर्तन के प्रारम्भ का ही रास्ता नहीं है अपितु यह सामाजिक प्रक्रिया तथा तंत्र के पुनः प्रस्तुति का एक यंत्र भी है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रभावशाली नियन्त्रण में पूर्ण सामान्य निशस्त्रीकरण शांति शिक्षा का लक्ष्य नहीं है, अपितु यह शस्त्र नियन्त्रण के प्रभावशाली ढंग के बारे में शिक्षा है जो शस्त्रों की ऊपरी सीमा

के लिए स्वीकृति प्रदान करता है।

(द) राजनीतिक संकल्पना—यह सिद्धान्त शासक व शासित के सम्बन्धों पर निर्भर है जो यह बताता है कि शासितों को अपनी स्थितियों के प्रति सचेत हो जाना चाहिए तथा शोध कार्य तथा शिक्षा की समन्विति के आधार पर शांतिपूर्ण विश्व का निर्माण करना चाहिए। अर्थात् इस अर्थ में शांति शिक्षा युद्ध के कारणों व अविकास से सम्बन्धी ज्ञान का स्रोत ही नहीं अपितु यह उन स्थितियों जिनमें शिक्षा का निर्णय हुआ है तथा शिक्षा की विषयवस्तु के बीच सम्बन्धों की भी आलोचनात्मक समझ है।

शांति एवं शांति-शिक्षा की दुविधाएं

यह दृष्टिकोण दो मूलभूत प्रश्नों से सम्बन्धित है—

1. क्या हिंसा के द्वारा शांतिपूर्ण समाज रचना सम्भव है या यह केवल अहिंसक कार्यों एवं साधनों से ही सम्भव है?

2. क्या शांतिपूर्ण समाज संरचनात्मक परिवर्तन से सम्भव है या मानवीय विकास से?

उपर्युक्त प्रश्नों पर विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि सैनिक शिक्षा या युद्ध एवं हिंसा से शांति स्थापना सम्भव नहीं है। पूंजीवादी व समाजवादी ढांचों के ढह जाने से यह और भी अधिक स्पष्ट हो चुका है। शांति केवल अहिंसक प्रशिक्षण और अहिंसक कार्यों से ही सम्भव है। कई शांति आन्दोलनों, गांधी, मार्टिन लूथर किंग आदि ने अहिंसा की शक्ति का पूर्ण परिचय प्रस्तुत किया है।

संरचनात्मक परिवर्तन से समाज में शांति के पक्षधर गाल्टुंग रहे हैं। उनका मानना है—"शासक उच्च वर्ग, शिक्षा के लक्ष्यों का निर्धारण वर्तमान ढांचे की सुरक्षा के लिए करता रहा है, जो हिंसा की संस्कृति है। हमें इस संस्कृति को संरचनात्मक परिवर्तन से तोड़ना होगा क्योंकि संरचनात्मक हिंसा असमान सम्बन्धों की प्रतीक है। हमें इस ढांचे के निषेध के लिए प्रयत्न करना चाहिए तथा अन्याय पर आधारित ढांचे को न्याय पर आधारित ढांचे में रूपान्तरित करना चाहिए।

मानवीय सुधार द्वारा शांति स्थापित करने के दृष्टिकोण में व्यक्ति को महत्त्व दिया गया है। कांट के अनुसार—

- युद्ध कोई ईश्वरीय कार्य या दैविक निर्णय नहीं है।

● शांति का अनुभव वर्तमान की आवश्यकता है, जिसे भविष्य के लिए टाला नहीं जा सकता।

● शांति शिक्षा भी सम्भव है यदि राजनीतिज्ञ, शांति कार्यकर्ताओं तथा शिक्षा-शास्त्रियों को अवकाश दें।

शांति आत्मविश्लेषण का और विशेषकर नैतिक परिप्रेक्ष्य में आत्म-विश्लेषण का अवसर देती है। इसका प्रारम्भ सामान्य चीजों जैसे—सहयोग के लिए तत्पर रहना, दैनिक अनुभवों से सीखना आदि को व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बना लेना चाहिए।

शांति शिक्षा की सीमाएं

इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि पिछले लगभग दो दशकों से शांति शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं। पवित्र उद्देश्यों तथा विशाल प्रयत्नों के बावजूद शांति शिक्षा का कार्यक्रम कई कारणों से बाधित हो रहा है, विशेषकर तीसरी दुनिया के परिप्रेक्ष्य में।

● शांति शिक्षा के कार्यक्रम केवल कुछ उच्च वर्ग तक सीमित रहा है तथा यह मानव-समूहों तक पहुंचने में असफल रहा है।

● सम्पूर्ण शांति आन्दोलन बौद्धिक व संगठनात्मक—दोनों ही स्तरों पर यूरोप केन्द्रित रहा है। तीसरी दुनिया के व्यक्ति, संस्थाएं तथा संगठन परिधि में ही रहे हैं।

● परमाणु अस्त्र-शस्त्रों का खतरा तथा तीसरी दुनिया में भूख, कुपोषण, अविकास, सामाजिक अन्याय, आतंकवाद आदि अधिक महत्त्वपूर्ण रहे हैं। तथा राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इन समस्याओं से जूझने के प्रयत्न ही प्रमुख रहे हैं, शांति शिक्षा की तरफ लोगों व राष्ट्रों का ध्यान ही कम गया है।

● व्यक्तिगत स्तर पर भी शांति शिक्षा की कुछ समस्याएं हैं। चूंकि शांति शिक्षा अभी तक उच्च वर्ग तक पहुंच पाई है जबकि ऐसे आधुनिकता वाले उच्च वर्गीय व्यक्ति अपने जीवन को भौतिकता की चकाचौंध के कारण खाली एवं अर्थहीन पाते हैं।

● उपर्युक्त सीमाओं के बावजूद शांति शिक्षा को नकारा नहीं जा सकता है। इसकी आवश्यकता पूरे विश्व को तथा अभी है, भविष्य के लिए निर्णय पर इसकी आवश्यकता को नहीं छोड़ा जा सकता।

शांतिशोध क्या और क्यों?

एक समस्या पर किया जाने वाला अध्ययन उस तत्व की ओर इंगित करता है जो अशांति के लिए जिम्मेदार है तथा जो व्यक्त और अव्यक्त हिंसा से लडने के लिए कदम निर्धारित करने में सहयोग करे और समाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विकास को आगे बढ़ाये, ऐसे कार्य को शांतिशोध कहा जा सकता है।

पाश्चात्य विचारक गुनार माइडल (Gunnar Myrdal) के अनुसार—"शांति शोध समाजविज्ञानों के विभिन्न क्षेत्रों में एक व्यवस्थित अध्ययन है जो संघर्ष, तनाव और युद्धों के बारे में हमारी समझ और सोच में सुधार लाता है।"

उपर्युक्त दोनों अर्थों को देखें तो प्रथम परिभाषा ही पूर्ण मानी जाएगी क्योंकि वहां केवल अशांति के लिए जिम्मेदार तत्त्वों पर नियन्त्रण पाने की बात ही नहीं है बल्कि सामाजिक विकास के लिए कदम निर्धारित करने की बात भी शामिल है क्योंकि शांति युद्ध का अभाव मात्र नहीं है, शांति है समाज का समग्र विकास।

वर्तमान मे शांतिशोध की अभिरुचि केवल शांति और युद्ध की समस्या तथा राजनैतिक संघर्षों तक ही सीमित है। शांति की नवीन परिभाषा के अनुसार युद्ध या हिंसा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में सतत् विद्यमान है। क्योंकि कुविकास (Mal development) गरीबी, आंतरिक हिंसा और युद्ध में एक निकट संबंध देखा जा सकता है। इसलिए युद्ध विरोधी साधनों का विकास व खोज आवश्यक है। इन युद्ध विरोधी साधनों का उद्देश्य केवल युद्ध और हिंसा को समाप्त करना नहीं है अपितु सभी प्रकार की हिंसा और समाज के सभी स्तरों में व्याप्त सभी प्रकार के शोषण को समाप्त करना है। इसलिए शांतिशोध का आन्दोलन वस्तुतः संपूर्ण व मूलभूत परिवर्तन का है। अहिंसा, हिंसा का विरोधी मात्र नहीं बल्कि सामाजिक परिवर्तन की सम्पूर्ण शक्ति है। इस प्रकार शांतिशोध का विचार नये समाज निर्माण के लिए है। शांतिशोध में

शांति के इस नवीन संप्रत्यय को सम्मिलित करना होगा, जिससे समाज परिवर्तन के साथ अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तन व कलह-शमन भी संभव हो सके।

शांतिशोध का उपर्युक्त अर्थ व विचार इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि शांति शोध किसी विशेष अनुशासन या विषय (Discipline) से संबंधित नहीं है, इसे किसी भी दिशा में विकसित किया जा सकता है जो दिशा शांतिशोधकर्ता के मन में हो। इसलिए शांतिशोध अन्तर्अनुशासित (Inter Disciplinary) है। उदाहरणार्थ भारत की समस्या को देखें--ये समस्याएं केवल राजनैतिक नहीं हैं, आर्थिक भी है, सामाजिक भी है, सांस्कृतिक भी है। किसी एक क्षेत्र के आधार पर हमारा अध्ययन गलत होगा। किसी भी समस्या को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखकर उसके निदान के प्रयत्न हों तभी शांति संभव होगी। गाल्टुंग का मानना है—शांतिशोध में हम विषय केन्द्रित क्षेत्र को समस्या केन्द्रित क्षेत्र में बदलें जिससे समस्या की गहराई तक जाया जा सके और उसका निदान संभव हो सके। समस्या के निदान के लिए शांति शोध में साधन-शुद्धि पर सदैव ध्यान रखा जाएगा।

"इसलिए शांतिशोध समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर में योजनाबद्ध प्रयत्नों द्वारा अहिंसक तरीके से सामाजिक परिवर्तन लाने के लक्ष्य का अनुसरण करता है।"

गाल्टुंग ने अपने एक निबन्ध "ए क्रिटिकल डेफीनेशन ऑफ पीस" में कहा है— "शांतिशोध उन शर्तों की दिशा में समझने का प्रयास है जो हमें अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्सामूहिक हिंसा को रोकने में योगदान करता है तथा राष्ट्रों और जनता के बीच सामंजस्यपूर्ण तथा रचनात्मक संबंधों के विकास में सहायक होता है।"

अतः गाल्टुंग के अनुसार शांतिशोध का व्यापक रूप से दो वर्गों में विभाजन है—

1. संघर्ष-शोध।
2. शांति के लिए पहल।

उपर्युक्त दोनों क्षेत्रों से संबंधित शोध शांतिशोध है।

शांतिशोध के उद्देश्य (Objectives)

शांतिशोध के उपर्युक्त विभाजन इसके उद्देश्यों को भी स्पष्ट करते हैं अर्थात् संघर्ष-शोध व शांति के लिए पहल इसका प्रमुख उद्देश्य हो सकता है। मुख्य

रूप से यह कहा जा सकता है कि समाज में अशांति की जो स्थितियां हैं, संघर्ष या तनाव की जो स्थितियां हैं, उनके कारणों का पता लगाना तथा उनके निराकरण के उपाय सुझाना—यह शांति शोध का प्रमुख उद्देश्य होगा। दूसरा महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होगा—समाज का समग्र विकास करना क्योंकि सामाजिक असमानताएं हिंसा का कारण बनती हैं इसलिए सबका समग्र विकास इसका एक और मुख्य उद्देश्य हो सकता है। इनके अतिरिक्त निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत शांतिशोध के उद्देश्यों को खोज सकते हैं—

- **अहिंसक समाज रचना**

शांतिशोध का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है—अहिंसक व गरीबी मुक्त समाज की रचना। यद्यपि कोई भी समाज ऐसा नहीं है जो केवल हिंसा या केवल अहिंसा पर चल सके। जीवन निर्वाह के लिए हिंसा आवश्यक है पर समाज-रचना अहिंसा के आधार पर हुई है। एक दूसरे के हित में बाधा न डालने का समझौता सामाजिक जीवन का सुदृढ़ स्तम्भ है। पर आज के समाज में जो उच्च-निम्न के भेद हैं, जो संघर्ष हैं उन्हें मिटाना आवश्यक है। अतः शांतिशोध का उद्देश्य होगा कि एक ऐसे समाज की रचना करें जिसमें हिंसा का वर्चस्व न हो तथा सबका समान विकास हो सके।

- **निशस्त्रीकरण**

शस्त्रास्त्रों के भयावह खतरे के बावजूद शस्त्रीकरण की होड़ जारी है। पारस्परिक अविश्वास व शक्ति संतुलन का सिद्धान्त इस समस्या को और अधिक गहरा बनाये हुए है। शांति स्थापना के लिए, आर्थिक कल्याण व पुनर्निर्माण के लिए, समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान के लिए तथा आणविक संकट व पर्यावरण प्रदूषण से बचने के लिए निशस्त्रीकरण की अपेक्षा है। शांतिशोध का उद्देश्य है—शस्त्रीकरण से होनेवाले संघर्षों का पता लगाकर उनके समाधान के रूप में निशस्त्रीकरण को प्रस्तुत करना क्योंकि विश्वशांति का एक मार्ग यह भी है।

- **समुचित व संतुलित विकास के लिए**

विश्व में कुविकास की समस्या बड़ी जटिल है। एक ओर तो विकसित राष्ट्र हैं, जहां भौतिक समृद्धि है, शक्ति है फिर भी वहां अशांति है। दूसरी तरफ अविकसित और पिछड़े हुए राष्ट्र हैं जहां गरीबी अशांति का कारण बनी हुई है। अर्थात् असंतुलित विकास विश्व शांति के लिए खतरा बन गया है।

शांतिशोध का उद्देश्य है—इस कुविकास या असंतुलित विकास के कारणों का पता लगाये तथा इसको रोककर समुचित व संतुलित विकास का मार्ग प्रशस्त करे।

- **पारस्परिक सहयोग**

राष्ट्रों की परस्पर अन्तर्निभरता इतनी अधिक बढ़ गई है कि पारस्परिक सहयोग के बिना कार्य नहीं चल सकता। और पारस्परिक सहयोग की कमी के कारण अनेक संघर्ष भी होते हैं। आज आवश्यकता है कि पारस्परिक सहयोग के क्षेत्र को बढ़ायें और प्रतिस्पर्धा व अविश्वास की भावना को छोड़ें। ये शस्त्रीकरण व अशांति के स्रोत हैं जबकि पारस्परिक सहयोग विश्वशांति का आधार है। शांतिशोध का उद्देश्य है पारस्परिक सहयोग के क्षेत्रों की खोज करें व पारस्परिक सहयोग को बढ़ायें।

- **नव्य-उपनिवेशवाद पर नियन्त्रण**

उपनिवेशवाद की समाप्ति के पश्चात् नव्य-उपनिवेशवादी नीतियां सामने आ रही हैं। शक्तिशाली राष्ट्र अविकसित राष्ट्रों के आर्थिक विकास में इसलिए रुचि लेते हैं ताकि उनकी अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण स्थापित कर उस राष्ट्र को अपने इशारों पर चला सकें। शांति शोध का यह उद्देश्य है कि उपनिवेशवाद के इस नवीन संस्करण के रूपों व कारणों का पता लगाकर निदान का मार्ग प्रशस्त करे।

- **संरचनात्मक हिंसा**

समाज की सरंचना में जो दोष हैं और जिनके कारण हिंसा होती है। शांतिशोध का तो यह प्रथम उद्देश्य है कि वह समाज-व्यवस्था और समाज की जड़ों में जो हिंसा के बीज छुपे हैं, उनका पता लगाकर संरचनात्मक हिंसा पर काबू पाये।

शांतिशोध की आवश्यकता

निम्नांकित विषयों के अध्ययन के लिए शांतिशोध की आवश्यकता है—

- **विश्व के बड़े धर्मों का शांति के प्रति क्या दृष्टिकोण है?**

यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि विश्वशांति का मार्ग धर्मों की शांति के प्रति दृष्टिकोण से जुड़ा हुआ है। विश्व में अनेक ऐसे युद्ध हुए हैं जो धार्मिक आधारों पर लड़े गये हैं। ईराक-ईरान की इतने वर्षों तक चली लड़ाई सशक्त प्रमाण है और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। जैसे अफगानिस्तान की अशांति,

बंगलादेश व पाकिस्तान की अशांति आदि-आदि। प्रारम्भ से धर्म और राजनीति के बीच संघर्ष चलता रहा है। आज इस बात की अपेक्षा है कि विभिन्न धर्मों का शांति के प्रति क्या दृष्टिकोण है इसक का पता लगाएं तथा शांति का एक सर्वसम्मत आधार प्रस्तुत करें। इस हेतु शांतिशोध की अपेक्षा है।

- **समसामयिक समाज में समाज परिवर्तन की क्या आवश्यकता है?**

चीन, रूस, फ्रांस आदि राष्ट्रों में समाज परिवर्तन का इतिहास खूनी क्रांतियों का इतिहास है। समाज परिवर्तन के लिए इतना खून बहाया जाने के बावजूद भी वांछित परिवर्तन नहीं आ सके हैं। इसलिए हमें समस्या को दूसरे दृष्टिकोण से सोचना होगा। यदि हिंसा समस्या का समाधान नहीं हो सकता तो अहिंसक साधनों से समाज परिवर्तन की बात सोचनी होगी। इस दिशा में गांधी, विनोबा, जयप्रकाश नारायण व आचार्य तुलसी के प्रयास महत्त्वपूर्ण हैं। अहिंसक साधनों से समाज परिवर्तन के लिए जिन साधनों को काम में लिया जाता रहा है उनमें सत्याग्रह, स्वदेशी, अहिंसा-प्रशिक्षण, हृदय परिवर्तन आदि प्रमुख हैं। शांतिशोध की आवश्यकता इसलिए है, वह यह पता लगाये कि सम-सामयिक समाज परिवर्तन की क्या आवश्यकता है? कैसे समाज-परिवर्तन किया जा सकता है और उसके क्या-क्या साधन हो सकते हैं?

- **शांति संगठनों की क्या भूमिका है?**

शांतिशोध की आवश्यकता इसलिए भी है कि वह यह पता लगाये कि विश्व-शांति की दृष्टि से शांति संगठनों की क्या भूमिका हो सकती है? विश्व के अनेक राष्ट्रों में कुछ सरकारी व गैर सरकारी संस्थान (Ngo's) हैं जो शांति के कार्यक्रमों में संलग्न हैं। पर उन संगठनों के बीच न तो कोई तालमेल है और न कोई संचार। शांतिशोध इस दिशा में प्रयत्न करके कि किस तरह इन शांति संगठनों को एक विश्वव्यापी नेटवर्क में जोड़ा जा सकता है और कैसे इनमें समन्वय स्थापित कर विश्वशांति के प्रयासों को गति दी जा सकती है?

- **शांतिशिक्षण की क्या समस्याएं हैं और क्या चुनौतियां हैं?**

शांतिशोध की आवश्यकता शांतिशिक्षण की समस्याओं और चुनौतियों के कारणों की खोज और निदान का मार्ग प्रशस्त करने के लिए भी है। गाल्टुंग का विचार रहा है कि "शांति, शक्ति के समान बंटवारे व संसाधनों के समान बंटवारे के बिना कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती" यही विचार शांति शिक्षण

का आधार बना है। क्योंकि शक्ति व संसाधनों का असमान बंटवारा विश्व में अशांति का कारण बनता है। फोयरस्टीर का मत है कि शांति संस्कृति के पुनर्निर्माण से ही आ सकती है। व्यक्ति संस्कृति का एक तत्त्व है, इसलिए वह इसके एक अंश के रूप में रहेगा पर समूह में भाईचारे या मानवता की भावना होगी। यह मानवता उत्पादक और सम्पूर्ण शिक्षा से ही आएगी जो स्वयं शांतिपूर्ण होगी। इस प्रकार शांति शिक्षण के कई आधार हो सकते हैं।

दूसरी तरफ युद्ध के लिए जैसा व्यवस्थित प्रशिक्षण है वैसा व्यवस्थित प्रशिक्षण शांति के लिए नहीं है, इसलिए भी शांतिशिक्षण के लिए कई समस्याएं और चुनौतियां हैं। शांतिशोध की आवश्यकता इसलिए है कि वह इन समस्याओं और चुनौतियों का पता लगाए।

उपर्युक्त समस्याओं के अलावा कुछ और महत्त्वपूर्ण समस्याएं हैं जिनके लिए शांतिशोध की आवश्यकता है–

1. अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को पुनर्व्यवस्थित करने के लिए।

2. राजनैतिक संगठनों में विशेष रूप से चुनाव के समय और नक्सलवादियों के संबंधों के बीच हिंसा की रोकथाम के लिए।

3. आर्थिक ढांचे में विशेषकर जमींदार और कृषक तथा पूंजीपति व श्रमिक के संबंधों के लिए।

4. संस्कृति के क्षेत्र में जिसमें भाषा, अर्थ, शिक्षा आदि के कारण संघर्ष हो रहे हैं।

शांति अविभाज्य है

विश्व में शांति के सम्बन्ध में दो अवधारणाएं प्रचलित हैं—पश्चिमी अवधारणा और पूर्वी अवधारणा। पश्चिमी अवधारणा के अनुसार युद्ध का अभाव मात्र शांति है। इसलिए पश्चिमी शांति कार्यकर्त्ता युद्धों को रोकने के लिए प्रयत्नशील हैं। उनका चिंतन है कि "युद्ध नहीं होंगे तो अशांति भी नहीं होगी।" इस अवधारणा के अनुसार शांति का एक अर्थ है—संगठित और सामूहिक हिंसा का अभाव और दूसरा अर्थ है सामंजस्य (Harmony)। दो विरोधी पक्षों में यदि सामंजस्य स्थापित है तो वहां अशांति का कोई कारण नहीं। अर्थात् सामंजस्य का अभाव भी अशांति का जनक है। पूर्वी अवधारणा शांति के इन अर्थों को नकारात्मक शांति (Negative Peace) की संज्ञा देकर सकारात्मक शांति (Positive Peace) के विचार को विकसित करती है। उनके अनुसार शांति संगठित और सामूहिक हिंसा के अभाव से कहीं अधिक है क्योंकि राष्ट्रों और व्यक्तियों के बीच असमानता, गुलामी, शोषण आदि भी अशांति के महत्त्वपूर्ण कारण बनते हैं। पूर्वी अवधारणा के अनुसार समाज के हर पक्ष से संबंध होने के कारण शांति समग्र अवधारणा है। इसलिए मनुष्य व समाज के समग्र विकास की प्रक्रिया, योजनाबद्ध एवं मानवोपयोगी समाज परिवर्तन ही वास्तविक शांति है और यह परिवर्तन भी सामंजस्य के आधार पर नहीं अपितु समता के आधार पर होना चाहिए। अतः शांति के लिए केवल प्रत्यक्ष और आरोपित हिंसा और शोषण का अभाव ही पर्याप्त नहीं अपितु संरचनात्मक हिंसा (Structural Violence) का अभाव भी जरूरी है। क्योंकि आज हिंसा समाज की जड़ों तक पहुंच गई है तथा मानव मस्तिष्क में घर कर गई है, इसलिए हमें शांति को समग्रता से लेना होगा। युद्ध विरोधी प्रचार का उद्देश्य मात्र संगठित हिंसा को समाप्त करना नहीं हो सकता अपितु सभी प्रकार की हिंसा और समाज

के सभी स्तरों में व्याप्त सभी प्रकार के शोषण व असमानता को दूर करना भी है। इसलिए हमें यह मानना ही होगा कि समग्र शांति की अवधारणा आध्यात्मिक जगत् का जितना आधारभूत सत्य है उतना ही व्यवहार जगत् का यथार्थ व अनिवार्य तत्त्व भी है।

शांति समग्र है, अविभाज्य है—इस कथन की सिद्धि के लिए हम कम से कम दो प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं—

1. अस्तित्ववादी प्रमाण।
2. कार्यकरण संबंधी प्रमाण।

पहले हम अस्तित्ववादी तर्क को लें—अस्तित्व यदि साधन है तो शांति उसका साध्य है। अस्तित्व विविध आयामी है पर उसका लक्ष्य समग्र शांति है। प्रो० गाल्टुंग के अनुसार अस्तित्व के पांच प्रकार हैं—प्रकृति, मानव, समाज, विश्व और संस्कृति। उनके अनुसार इन पांचों अस्तित्वों का साध्य भिन्न-भिन्न होते हुए भी परम साध्य के रूप में ये शांति की अपेक्षा रखते हैं—

प्रकृति का साध्य – परिस्थिति का संतुलन है
मानव का साध्य – बोधि प्राप्त करना है
समाज का साध्य – विकास है
विश्व का साध्य – शांति है और
संस्कृति का साध्य – पर्याप्तता है।

गहराई से विचार करने पर ये सभी तत्त्व परस्पर अन्तर्ग्रंथित दिखाई देते हैं। यदि हम इनको अलग-अलग करके देखें तो हम शांति को नहीं जान सकते। इसका कारण है—मनुष्य, विश्व में घटित प्रत्येक घटना से प्रभावित होता है तथा प्रत्येक घटना को वह स्वयं भी प्रभावित करता है। इसलिए हम किसी एक भी तत्त्व की अवहेलना करके शांति स्थापित नहीं कर सकते। उदाहरणतः यदि प्रकृति का संतुलन ठीक नहीं होगा तो शेष चार तत्त्व भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे। "प्रत्येक तत्त्व दूसरे तत्त्व की शांति पर निर्भर करता है", इस तथ्य को हम इस रूप में भी कह सकते हैं कि सबकी शांति में मेरी शांति निहित है। अस्तित्व के विभिन्न प्रकारों की परस्पर निर्भरता से

शांति की अखण्डता सिद्ध होती है। प्रो० गाल्टुंग ने ठीक ही लिखा है—"जब हम शांति के बारे में चर्चा या विचार-विमर्श करते हैं तो इसका आशय इतना ही नहीं है कि शांति केवल राष्ट्रों के बीच में ही हो, बल्कि शांति तो समाज की रग-रग में, मानव जातियों में और यहां तक कि प्रकृति में भी शांति व्याप्त होनी चाहिए।"

कार्यकारण तर्क

हम पहले यह देखें कि शांति की पूर्वावस्था क्या है? तनाव व संघर्षों के अंत को हम शांति की पूर्वावस्था के रूप में देख सकते हैं। वैयक्तिक स्तर से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के तनाव संघर्ष पैदा करते हैं तथा शांति को भंग करते हैं। प्रश्न होगा तनाव किन कारणों से उत्पन्न होता है? क्या तनाव का एकमात्र कारण युद्ध ही है? निश्चित ही नहीं, गरीबी और असमान विकास भी तनाव के कारण हैं। एकमात्र गरीबी को भी इस तनाव् का कारण नहीं कह सकते। यदि ऐसा होता तो विकसित राष्ट्र जहां पैसे की कोई कमी नहीं है, अशांत नहीं होते। इसलिए यह मानना होगा कि असमान विकास भी अशांति का एक कारण है। एक तरफ समृद्धि है दूसरी तरफ 87 करोड़ व्यक्ति पढ़ लिख नहीं सकते, 50 करोड व्यक्तियों के पास रोजगार नहीं, 13 करोड़ बच्चे स्कूल जाने में सक्षमं नहीं,45 करोड़ भूख व कुपोषण से पीड़ित हैं, एक करोड़ 20 लाख बच्चे प्रथम जन्मोत्सव से पहले ही खत्म हो जाते हैं। 2 अरब लोगों के पास पीने का पानी नहीं है, 25 करोड़ व्यक्ति झुग्गी-झोपड़ियों में रह रहे हैं। समृद्ध भी अशांत है और गरीब भी अशांत। समृद्ध अशांत हैं क्योंकि उन्हें सैनिक भय सता रहा है, सांस्कृतिक विपन्नता उच्छृंखलता पैदा कर रही है, समाज की टूटन रिक्तता बढ़ा रही है, संदेह, भय, संत्रास, प्रदूषण उन्हें भविष्य के प्रति त्रस्त बनाए हुए है। गरीब अशांत हैं क्योंकि उसके पास भोजन नहीं है, वस्त्र और मकान नहीं है, शिक्षा और रोजगार नहीं है। यदि संघर्षों के कारण एक भी राष्ट्र अशांत होता है तो दूसरा राष्ट्र अशांति से बच नहीं सकता। एक राष्ट्र की टूटन दूसरे की अशांति का कारण बन जाती है। यही कारण है कि आज अमेरिका जैसे समृद्ध राष्ट्र अविकसित राष्ट्रों के विकास के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, उनके उत्थान के लिए मार्शल योजना जैसी कई योजनाओं

का निर्माण हो रहा है क्योंकि ऐश्वर्य की अट्टालिकाओं की ऊंचाईयों से उन्हें अपनी कब्रों की गहराइयां भी नजर आ रही हैं। इन कब्रों की गहराइयों को पाटे बिना उनका ऐश्वर्य ज्यादा दिनों तक सुरक्षित नहीं रह सकता।

वस्तुतः हमें इस तथ्य को स्वीकार करना होगा—शांति अविभाज्य है, उसे खण्ड-खण्ड करके कोई भी शांति से नहीं रह सकता। इसलिए गांधी ने समग्र विकास की बात कही। जयप्रकाश नारायण ने सम्पूर्ण क्रान्ति को आवश्यक माना। सबका समग्र व हर क्षेत्र में समान विकास नहीं होगा तो शोषक और शोषित, शासक और शासित, पूंजीपति और श्रमिक आदि दो वर्ग सदैव बने रहेंगे और एक वर्ग की अशांति दूसरे वर्ग को भी अशांत बना देगी। इसलिए यह आवश्यक है कि हम शांति को समग्र व अविभाज्य मानकर सम्पूर्ण समाज के समग्र व समान विकास के लिए प्रयत्न करें।

सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा

मानव समाज प्राचीनकाल से आज तक निरन्तर विकसित और परिवर्तित होता चला आ रहा है। प्राचीन और मध्यकाल में जब शिक्षा का प्रसार नहीं था, सामाजिक पुनर्निर्माण का कार्य समाज की विभिन्न संस्थाओं द्वारा किया जाता था। आज जब शिक्षा का पर्याप्त प्रसार हो गया है, तो शिक्षा को ही सामाजिक पुनर्निर्माण का प्रमुख साधन माना जाता है। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में—"शिक्षा परिवर्तन व पुनर्निर्माण का साधन है।' जो कार्य साधारण समाजों में परिवार, धर्म और सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं द्वारा किया जाता था, वह आज शिक्षा द्वारा किया जा रहा है।"

भारतीय शिक्षा आयोग 1964-66 ने सामाजिक पुनर्निर्माण को आधुनिकीकरण से जोड़ा है, जिससे नवीन विचार, नवीन ज्ञान-विज्ञान, तकनीकी आदि द्वारा सामान्य जीवन की भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन आ रहा है तथा समस्त समाज का जीवन परिवर्तित हो रहा है। सुख-संवृद्धि की संभावनाएं अधिक प्रशस्त हो रही हैं। मानवीय तत्त्वों के कौशल, ज्ञान और गतिशीलता में अन्तर आ रहा है जो सम्पूर्ण समाज के आर्थिक और सामाजिक ढांचे को प्रभावित करता है। समाज एक स्थिति से उठकर उन्नत स्थिति की ओर बढ़ता है। इस प्रकार की दशा पुनर्निर्माण की दशा होती है।

सामाजिक पुनर्निर्माण क्या है?

सामाजिक पुनर्निर्माण हमारे सोचने-समझने और तौर-तरीकों में ऐसा अन्तर है जो हमारे जीवन में आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक सभी पक्षों में सुधारात्मक प्रभाव लाता है। राबर्ट हीन ब्रोनर ने सामाजिक पुनर्निर्माण को "महान आरोहण" की संज्ञा दी है। उनका मत है—"आर्थिक विस्तार के लिए अनिवार्य पूंजी या संसाधनों की पूर्ति से ही परम्पराओं से जकड़े हुए समाज का पुनरुद्धार नहीं हो सकता तथा इस रूपान्तरण के लिए

व्यापक सामाजिक कायापलट भी पर्याप्त नहीं है अपितु आदतों में आमूल परिवर्तन, समय, प्रतिष्ठा, धन और कार्य संबंधी मूल्यों का परिवर्तन तथा स्वयं के दैनिक जीवन के ताने-बाने को भी बदलकर सामाजिक पुनर्निर्माण को संभव बनाया जा सकता है।"

सामाजिक पुनर्निर्माण का संबंध आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था में बदलाहट से लगाया जाता है। समाज की आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था में जब सुधारात्मक परिवर्तन होता है, तब समाज में नवीन प्रवृत्तियों का उदय होता है, नये प्रतिमान स्थापित होते हैं। पुरातन मान्यताएं खण्डित होती हैं तथा विकास की संभावनाएं प्रशस्त होती हैं। रेडोवान ने लिखा है—सभी विकासोन्मुख समाजों में सारे सचेतन प्रयास इस हेतु किये जा रहे हैं कि वे ऐसी संस्कृति को जन्म दें जो तकनीकी युग और सार्वभौमिकता की मांगों को पूरी कर सके।"

पुनर्निर्माण क्यों?

विश्व के विभिन्न समाजों का अध्ययन करें तो यह जानने को मिलेगा कि विश्व में कुछ समाज ऐसे हैं जो बहुत अधिक विकसित हैं। यह विकास आर्थिक और भौतिक है। यहां संस्कृतियों का विनाश हो रहा है। परिवार, विवाह जैसी सामाजिक संस्थाएं टूट रही हैं। व्यक्ति अकेलापन महसूस कर रहा है। भौतिक चकाचौंध उसे सुखशांति नहीं अपितु तनाव और संघर्ष दे रही है। दूसरी तरफ कुछ समाज ऐसे हैं जहां विकास नगण्य है। भुखमरी, बेकारी, गरीबी, कुपोषण इन समाजों को त्रस्त किये हुए है परिणमतः ये समाज भी अशांत हैं, संघर्षरत हैं। एक तरफ समृद्धि है एक तरफ गरीबी। यह कुविकास अशांति का कारण है, अतः इस कुविकास को दूरकर संतुलित विकास के लिए इन दोनों ही समाजों के पुनर्निर्माण की आवश्यकता है। यह पुनर्निर्माण विश्व-बन्धुत्व, परस्पर सहयोग, सहअस्तित्व द्वारा ही हो सकता है, जिसके लिए शिक्षा की अहं भूमिका होगी।

पुनर्निर्माण का आधार मनुष्य

सामाजिक विकास, परिवर्तन और पुनर्निर्माण का आधार मनुष्य ही है। मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही आविष्कार करता है। जब इच्छाएं असीम हो जाती हैं तब परस्पर संघर्ष अवश्यंभावी हो जाती है। मनुष्य के जीवन की श्रेष्ठता इस बात में है कि वह सामाजिक पुनर्निर्माण के अनुकूल आचरण

करना सीखे तथा स्वयं को उन परिवर्तनों के अनुकूल ढाले। इस प्रकार मनुष्य पुनर्निर्माण प्रक्रिया में दो प्रकार से भाग लेता है—एक तो समाज में आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन लाने का प्रयास करता है तथा दूसरे वह उत्पन्न परिवर्तन के अनुरूप स्वयं को ढालने का प्रयत्न करता है। अर्थात् परिवर्तन मनुष्य स्वयं लाता है तथा मनुष्य का अपना तदनुरूप आचरण ही उस परिवर्तन को लागू करता है।

सामजिक पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा एक साधन

शिक्षा द्वारा अनेक देशों एवं समाजों का पुनर्निर्माण किया गया है। इस हेतु निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत हैं—

1. भारत में अंग्रेजी शिक्षा के कारण सामाजिक पुनर्निर्माण

अंग्रेजी शिक्षा के प्रवेश से भारत ने कई सदियों की कुम्भकर्णी निद्रा का परित्याग कर अपने समाज में असाधारण आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि परिवर्तन किये। सामाजिक पुनर्निर्माण का श्रेय राजा राममोहन राय, टैगोर, केशवचन्द्र सैन, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि महान् व्यक्तियों को प्राप्त हुआ। इन्होंने सती प्रथा, कन्या वध, बालविवाह आदि कुप्रथाओं का अंत कर हमारे समाज की कायापलट कर दी। राजनैतिक पुनर्निर्माण का श्रेय दादाभाई नौरोजी, गोखले, गांधीजी व नेहरूजी को जाता है। यह सच है कि देश के शैक्षिक विचारों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के बिना आधुनिक भारत की सामान्य जागृति संभव नहीं होती।

2. भारत में मूल्यपरक शिक्षा के कारण सामाजिक पुनर्निर्माण का प्रयास

प्राचीन भारत के निवासियों में धर्म और नैतिकता में आस्था होने के कारण, न्याय, सहयोग, सहिष्णुता, सह-अस्तित्व, निःस्वार्थता आदि मूल्यों पर सदैव बल दिया गया था। उन्होंने आध्यात्मिक मूल्यों की तुलना में भौतिक मूल्यों को निम्नतर स्थान दिया था। पर स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्रों में स्वार्थ व शोषण की भावनाएं प्रबल हो गई थीं तथा सहयोग व सहिष्णुता का स्थान अलगाव, घृणा व द्वेष ने ले लिया था। सामाजिक परिवर्तन और विघटन की इस प्रक्रिया में सबसे शक्तिशाली तत्त्व विज्ञान की शिक्षा का विकास था।

पर आज अलगाववाद, असहिष्णुता आदि को दूर कर सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए मूल्यपरक शिक्षा पर बल दिया जा रहा है ताकि सर्वांगीण व्यक्तित्व

का विकास संभव हो सके तथा सहयोग व भ्रातृत्व पर आधारित समाज का पुनर्निर्माण हो सके।

3. जर्मनी में शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन

सन् 1806 में "जीना के युद्ध" में नेपोलियन द्वारा धूल-धूसरित कर दिये जाने के कारण जर्मन लोगों की देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, बलिदान आदि भावनाओं पर घातक प्रभाव हुआ था। इन भावनाओं का पुनर्निर्माण करके अपने समाज को पूर्व रूप में परिवर्तित करने के लिए शिक्षा का सहारा लिया गया था।

4. सोवियत संघ में शिक्षा द्वारा समाजवाद का व्यापक प्रचार

इसी तरह सोवियत संघ में जार के सामन्तवादी विचारों को हटाकर समाजवादी समाज के पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा का सहारा लिया गया था। समाजवाद को विश्वव्यापी बनाने के लिए भी सोवियत संघ ने शिक्षा का भरपूर सहारा लिया।

5. शांति शिक्षा द्वारा वर्तमान विश्व के कायापलट का प्रयास

वर्तमान में विश्व के असन्तुलित विकास या कुविकास को खत्म करने, शस्त्रीकरण को रोकने तथा अहिंसक व शांतिवादी विश्व समाज की रचना के लिए शांति शिक्षा व निःशस्त्रीकरण की शिक्षा का सहारा लिया जा रहा है। इस प्रकार समाज के पुनर्निर्माण में शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में सामने आई है। भविष्य की राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुरूप सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा इस तरह की आयोजित की जाए कि वह बालकों में परिवर्तन व नवीन प्रवृत्तियों पर आलोचनात्मक ढंग से विचार कर सकने की योग्यता दे।

सामाजिक पुनर्निर्माण हेतु दो आधार पर प्रयत्न करने आवश्यक हैं—

1. भौतिक संसाधनों का विकास व उनका समान वितरण
2. मानवीय संसाधनों का विकास व उनका पूर्ण उपयोग।

शिक्षा इन दोनों क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। व्यक्ति को नये मूल्य देने, उसकी प्रवृत्ति सोचने-विचारने के ढंग और नये परिवर्तन के प्रति आस्था उत्पन्न करने का कार्य शिक्षा ही करती है। रूस में क्रान्ति के बाद समाज के पिछड़े ग्रामीण और परम्परागत स्थिति से उन्नत, विकासशील और आधुनिक समाज में बदलने का कार्य विद्यालयों को ही सौंपा गया था। कोठारी आयोग ने उचित ही कहा था—हमारा देश जिस प्रकार के समाजवादी ढंग

का समाज निर्मित करना चाहता है, वह समाज व्यक्तिगत या समूहगत संकीर्ण निष्ठा व स्वार्थता के द्वारा नहीं अपितु राष्ट्रीय विकास के सभी घटकों के प्रति व्यापक निष्ठा व उसके प्रति उत्सर्ग से ही बन सकेगा और इस हेतु शिक्षा अहं साधन होगी।"

सामाजिक पुनर्निर्माण कैसे करें?

सामाजिक पुनर्निर्माण निम्न दो तरीकों से किया जा सकता है—

1. संगठित व नियोजित रूप से धीरे-धीरे परिवर्तन लाना।
2. क्रांति अथवा आन्दोलन द्वारा एकाएकं परिवर्तन लाना।

इन दोनों विधियों में प्रथम विधि उपयोगी एवं संतोषजनक है जबकि दूसरी विधि घृणा, अत्याचार, हिंसा, अशांति उत्पन्न करेगी। 1688-89 की इंग्लैण्ड की, 1783 की फ्रांस की, 1917 की रूसी क्रान्तियां इसके प्रमाण हैं।

शिक्षा का सहयोग

योजनाबद्ध सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा तीन प्रकार से सहयोग कर सकती है—

1. व्यक्तियों में यह समझ विकसित की जाय कि वे अच्छी व उपयोगी परम्पराओं और व्यवस्थाओं का चयन कर सकें तथा अनुपयोगी एवं बुरी परम्पराओं तथा रूढ़ियों को छोड़ सकें।
2. व्यक्ति निर्भीक एवं स्वतंत्र होकर सामाजिक बुराईयों की आलोचना कर सके।
3. व्यक्ति योग्य बनकर सुनियोजित एवं सुनिश्चित योजना में सहयोग दे सके।

यद्यपि वर्तमान शिक्षा हमारे सामाजिक पुनर्निर्माण के स्वरूप को निश्चित करने में असफल रही है। प्रो०,सचदेवा के शब्दों में—"शिक्षा, जिसे सामाजिक व्यवस्था को नवीन रूप प्रदान करने में नेतृत्व करना चाहिए था, उसकी चाटुकार सहचरी के रूप में कार्य करके संतोष का अनुभव कर रही है।" इसीलिए वर्तमान शिक्षा में परिवर्तन की बात बहुत जोरों से की जा रही है। शिक्षा में आज मूल्यों का अकाल-सा पड़ गया है, इसी कारण विश्व कुविकास की समस्या से ग्रस्त है। वर्तमान शिक्षा में मूल्यों का तथा अहिंसा एवं शांति के तत्त्वों के समावेश से विश्व द्वारा चाहे जा रहे संतुलित सामाजिक पुनर्निर्माण को संभव बनाया जा सकता है।

कैसी हो 21 वीं शताब्दी की शिक्षा?

विश्व या समाज की समस्या वास्तव में व्यक्ति की समस्या है। विश्व तभी शांति से रह सकता है, जब व्यक्ति शांति से रहने के लिए अपना मन बनाये। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब व्यक्ति के शरीर, मन और भाषा के बीच समन्वय हो। शिक्षा की आवश्यकता व्यक्ति को यही प्रशिक्षण देने के लिए है। प्रचलित शिक्षा पद्धतियों ने यद्यपि कई सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति की है पर इसका मुख्य लक्ष्य समाज का संतुलित विकास और शिक्षा के ढांचे का सुदृढ़ीकरण होने की बजाय सर्वश्रेष्ठ शासक वर्ग का निर्माण रहा है, इसी कारण अभी तक लोक कल्याण नहीं हो पाया है। यद्यपि मानव सभ्यता, विकास के कई सोपानों से गुजरी है पर यह केन्द्रीय दृष्टि अपरिवर्तनीय रही है। नौकरशाही, औद्योगीकरण, विज्ञान, प्रबन्ध, सेना, राष्ट्रवाद, समाजवाद, योजनाबद्ध विकास—सबने इस प्रक्रिया में भरपूर सहयोग किया है। व्यक्ति ने व्यक्ति का शोषण किया, शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा कमजोर लोगों पर अत्याचार हुए, पुरुषों ने स्त्रियों का तथा विभिन्न आयु वाले लोगों ने एक-दूसरे का शोषण किया है, उन पर शासन किया है। इतिहास से चली आ रही शिक्षा की इस व्यवस्था ने केवल शासक समाज की सेवा की है और हिंसा को बढ़ावा दिया है।

योजनाबद्ध हिंसा आज की देन नहीं, बल्कि सदियों से चली आ रही है, इस तरह के बहुत से साक्ष्य प्राचीन इतिहास में देखने को मिलते हैं। एक इटालियन यात्री ने भारत यात्रा का अपना अनुभव लिखते हुए कहा है—वह एक ब्राह्मण से मिला और सूर्यग्रहण के बारे में जानकारी चाही। ब्राह्मण ने वैज्ञानिक विस्तार से उसे प्रामाणिक जानकारी दी। संयोगवश उसी समय एक अस्पृश्य व्यक्ति ने भी ब्राह्मण से वही जानकारी चाही। ब्राह्मण का उत्तर

था—राक्षस राहू सूर्य देवता को निगल जाता है और सूर्यग्रहण हो जाता है। जब इटालियन यात्री ने यह सब देखा तो पूछा—कौन सा उत्तर सही है? ब्राह्मण का जवाब था—जो उत्तर आपको दिया गया, वही सही है। ज्ञान सबके लिए नहीं है, सामान्य आदमी के लिए दूसरी शिक्षा है। प्राचीन भारत में स्त्री और अस्पृश्य को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था। अतः शिक्षा अभ्यास के लिए नहीं वरन् शासक वर्ग के लिए है। ये शासक पूरे राष्ट्र के विकास को अकेले ही निगल लेते हैं। विकसित राष्ट्र इसी प्रकार की शिक्षा को महत्त्व देते रहे हैं। ग्रेट ब्रिटेन में शिक्षा केवल उच्च वर्ग के लिए ही है। केवल 16% लोग ही उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं, इनमें से भी 80% लोग शारीरिक श्रम न करने वाले परिवारों से आते हैं यद्यपि ग्रेट ब्रिटेन में 98% साक्षरता है पर इनमें से 80% केवल बैनर की प्रथम पंक्तियों को ही पढ़ सकते हैं। शिक्षा का यह एकाधिकार पद और धन के एकाधिकार से भी खतरनाक है। इससे बुरा क्या होगा कि एक छोटा समुदाय अपने विशेष ज्ञान के कारण पूरे समूह पर शासन कर रहा है। प्राचीनकाल की तुलना में आज शूद्रों की संख्या अधिक हो गई है। वैशिष्ट्य के बिना सामाजिक ज्ञान रखने वाले लोग समाज में अविश्वसनीय हैं। अतः मात्र विशिष्ट लोगों के पास ही शिक्षा व सत्ता का अधिकार है। उनके पास ही ऐसे मंत्र हैं जो नियम उपनियम—आचार संहिताओं आदि का निर्माण करते हैं।

ज्ञान की यह संकीर्णता व्यक्ति को प्राकृतिक विवेक से दूर ले जा रही है तथा उसकी आंतरिक प्रतिभा और विवेक शक्ति को नष्ट कर रही है। अतः आज आवश्यकता है 21 वीं शताब्दी के लिए शिक्षा पर पुनर्विचार व पुनर्निर्माण की। यदि शिक्षा को रोजगार के साथ जोड़ा जाता है तो इसके परिणाम भी भयावह ही हैं। रोजगार प्राप्त व बेरोजगारों के बीच संघर्ष है। अनुत्पादक शिक्षित रोजगार प्राप्त व उत्पादक अशिक्षित स्वयं रोजगार प्राप्त व्यक्तियों के बीच संघर्ष है। यह कहना मात्र धोखा है कि आज अनुत्पादक शिक्षित रोजगार व्यक्ति पूंजी पर नियंत्रण स्थापित कर रोजगार उत्पन्न कर रहे हैं। यदि ऐसी ही स्थिति रही तो परिणाम खतरनाक भी हो सकते हैं।

प्रश्न है—तब हम क्या करें? कैसे हम नई शिक्षा नीति का निर्माण करें?

इस नई शिक्षा नीति के क्या लक्ष्य और उद्देश्य होंगे? गांधी जी की भाषा में इस प्रश्न का समाधान है—हम किसी भी समाज का रख-रखाव करने की जगह शिक्षा के माध्यम से नए समाज तंत्र का निर्माण करें जो अहिंसक समाज का नेतृत्व करे। ऐसी शिक्षा दलितों के उत्थान के लिए होगी, शक्ति को विकेन्द्रित करने के लिए होगी तथा समानता की संस्कृति के विकास के लिए होगी। सबके लिए समान अवसर का नारा आज अधिक सार्थक नहीं क्योंकि समाज के विभिन्न वर्ग, जातियां बहुत अधिक असमान स्तर तक पहुंच चुकी है। अतः पिछड़े वर्ग को कुछ अतिरिक्त लाभ देने होंगे जिससे शिक्षा उन्हें समान स्तर पर ला सके। ऐसी शिक्षा स्व प्रकाशित करने वाली तथा मूल्य केन्द्रित होगी जिसका उद्देश्य डाक्टर, इंजीनियर व प्रशासक देना नहीं अपितु इन लोगों में वैसे गुण व मूल्य भी हैं या नहीं, यह देखना होगा। इस प्रकार की शिक्षा द्वारा परिवर्तित अभिवृत्तियों का विकास होगा, बौद्धिक परिपक्वता आएगी जिससे अहिंसक संस्कृति का निर्माण होगा। फोयरस्टीर ने ठीक ही कहा था—शांति केवल संस्कृति के पुनर्निर्माण से ही स्थापित हो सकती है। इस संस्कृति में सामंजस्यता व सेवा भावना पर बल दिया जाएगा। हिंसा व केन्द्रीयकरण की जगह सहभागिता व अहिंसक भावना का विकास होगा। कार्ल मेनहीन ने ठीक ही कहा है—"हिंसक दृष्टिकोण को उपयुक्त शिक्षा के द्वारा रोका जा सकता है।"

गांधीजी से एक बार पूछा गया—आपकी शिक्षा का क्या उद्देश्य है? गांधीजी का उत्तर था—चरित्र निर्माण। मैं साहस, शक्ति तथा कार्य करते समय स्वयं को भूल जाने की योग्यता का निर्माण करना चाहूंगा, जो साक्षरता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। आज की शिक्षा हमें सब कुछ सिखाती है पर हमारे आंतरिक अस्तित्व से परिचित नहीं करवाती। हम नहीं जानते कि हम अपनी इच्छाओं और स्वार्थों के कितने गुलाम हैं। हम दूसरों की सेवा करने की बजाय स्वयं की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति क्यों करते हैं। क्यों हमारे पास अच्छाई और बुराई के बीच भेद करने का विवेक नहीं है। इसलिए सूचनाएं एकत्र करना शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं अपितु मानवीय बदलाव ही इसका उद्देश्य हो सकता है। आइन्स्टीन ने भी कहा था—हमारे कार्यों में नैतिकता आये यह

मानवता का महान् उद्देश्य है। संक्षेप में हम 21 वीं शताब्दी के लिए शिक्षा के स्वरूप में निम्न तत्त्वों का समावेश मान सकते हैं।

1. साक्षरता न तो शिक्षा का प्रारंभ है न ही अंत।

2. बौद्धिक ज्ञान शिक्षा का एक पहलू है, इसका दूसरा पहलू है—इच्छाओं व भावनाओं को प्रशिक्षित करना तथा चरित्र निर्माण।

3. शिक्षा का व्यक्तिवादी मूल्य ठीक नहीं, व्यक्ति का विकास समाज के विकास के साथ जोड़ना चाहिए।

4. विज्ञान के योगदान को नकार नहीं सकते पर हमें अपनी आंतरिक शक्तियों के विकास के लिए अपनी आंखें बन्द नहीं कर लेनी चाहिए।

शैक्षिक व्यय उपभोग है या विनियोग

शिक्षा का अर्थशास्त्र

पिछले कुछ वर्षों में अर्थशास्त्र की एक नई शाखा का उद्भव हुआ, जिसे शिक्षा का अर्थशास्त्र कहा जाता है। इसके अन्तर्गत शिक्षा पर किये जाने वाले व्यय और उससे मिलने वाले लाभ का विवेचन किया जाता है। शिक्षा में अर्थशास्त्र के विकास में जॉन वेजी, शुल्ज आदि अर्थशास्त्रियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सम्पूर्ण विश्व में शिक्षा के प्रसार का व्यापक दौर प्रारम्भ हुआ। विकास की इस तीव्र गति का कारण ज्ञान-विज्ञान का विस्फोट तथा उद्योग में नवीन तकनीकी क्रांति आना था। इसके परिणाम स्वरूप शिक्षा पर किये जाने वाले व्यय में आशातीत वृद्धि हुई। 1960 में जर्मनी में राष्ट्रीय आय का 2.4 प्रतिशत शिक्षा पर व्यय होता था जो 1970 में 4.4 प्रतिशत हो गया था। भारत में भी जहां शिक्षा पर व्यय राष्ट्रीय आय का 2 प्रतिशत था वह बढ़कर 1975-76 में लगभग 4 प्रतिशत हो गया तथा वर्तमान में यह लगभग 6 प्रतिशत है। इस बढ़ते हुए व्यय का क्या औचित्य है। इसका उत्तर शिक्षा का अर्थशास्त्र देने का प्रयत्न करता है। जब शैक्षिक क्षेत्र में राष्ट्रीय सीमित-साधनों के इतने बड़े भाग का उपभोग होता है, तब यह आवश्यक है कि शैक्षिक व्यय की भी अन्य क्षेत्रों में विनियोजित धन-राशि के समान जांच की जाए। शैक्षिक निर्णय केवल सामाजिक एवं राजनैतिक आधार पर अथवा अन्य विकसित देशों की शैक्षिक उपलब्धि की दृष्टि से लिये जांने उचित नहीं है, उनके आर्थिक पक्ष को भी समुचित महत्त्व दिया जाना आवश्यक है, जिससे राष्ट्र के सीमित साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग हो सके।

शैक्षिक व्यय : उपभोग या विनियोग

शैक्षिक व्यय को उपभोग रूप माना जाए अथवा विनियोग रूप, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। वस्तुओं और सेवाओं को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—एक वह, जिसका लाभ उपभोक्ता तत्काल उठा सके तथा दूसरा वह, जिसका उपयोग दीर्घकालीन उत्पादन में किया जा सके। प्रथम वर्ग

उपभोग कहलाता है दूसरा वर्ग विनियोग। शिक्षा एक दृष्टि से उपभोग की वस्तु है, क्योंकि उससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है, दूसरी दृष्टि से शिक्षा एक विनियोग रूप प्रवृत्ति है क्योंकि इसके द्वारा ऐसे शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों का उत्पादन होता है जो व्यक्तिगत धन कमाने की क्षमता प्राप्त करने के साथ-साथ देश की उत्पादन प्रक्रिया में सहायक होते हैं। उपभोग की दृष्टि से शिक्षा की आवश्यकता सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उत्पन्न होती है और विनियोग के रूप में उसका प्रावधान मुख्यतः उसकी उत्पादन क्षमता द्वारा निश्चित होता है।

शैक्षिक नियोजन द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् भी कुछ समय तक स्वतंत्र रूप से होता रहा, उसका राष्ट्रीय विकास योजना से विशेष संबंध नहीं था। शिक्षा और आर्थिक क्षेत्र के मध्य सर्वप्रथम संबंध राष्ट्रीय विकास योजना के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों हेतु शिक्षित मानव-शक्ति की मांग के कारण हुआ। शिक्षा प्रणाली में अब यह भी अपेक्षा की जाने लगी कि वह वांछित संख्या में निर्धारित योग्यता के व्यक्ति निश्चित समयोपरान्त उपलब्ध करे। शैक्षिक विकास को राष्ट्रीय विकास का एक प्रमुख साधन माना जाने लगा और नियोजकगण शैक्षिक नियोजन और राष्ट्रीय विकास नियोजन के एकीकरण पर बल देने लगे।

अर्थशास्त्री यह मानने लगे कि आर्थिक विकास की उपलब्धि प्रमुखतः भौतिक साधनों से इतनी नहीं होती जितनी तकनीकों द्वारा मानवीय साधनों को उन्नत करने से। मानवीय पूंजी के विकास के आधार हैं—शिक्षा, व्यवसायिक प्रशिक्षण, स्वास्थ्य संबंधी सेवाएं, पौष्टिक आहार आदि। इन पर किये गये व्यय से मानवीय पूंजी उन्नत होती है, जिससे देश अपनी आय में स्तर को उन्नत करने में समर्थ होता है और आर्थिक विकास की गति में तीव्रता आती है।

जॉन वेजी, शुल्ज आदि अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक विकास व शैक्षिक व्यय के बीच घनिष्ट सहसंबंध पाया है। ब्रिटेन में सन् 1900 में शैक्षिक बजट राष्ट्रीय उत्पादन का 2 प्रतिशत था जो 1958 में बढ़कर 4 प्रतिशत हो गया, यही अनुपात आर्थिक विकास की गति का भी देखा जा सकता है। वेजी का निष्कर्ष है—जैसे-जैसे धन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे शिक्षा पर किया जाने वाला व्यय उपभोग माना जा सकता है। दूसरी ओर शिक्षा पर जिस मात्रा में व्यय किया जाता है, उससे कई गुना अधिक प्रतिफल शीघ्र ही मिलने लगता है, इस दृष्टि से यह विनियोग भी है।

अर्थशास्त्र में पूंजी को उत्पादन का साधन माना जाता है और यह पूंजी

स्वयं भी एक उत्पादित वस्तु अथवा सेवा होती है। यह तीन प्रकार की मानी गई है—भौतिक पूंजी, जैसे फैक्टरी में मशीन या खेत में ट्रैक्टर आदि, मानवीय पूंजी जैसे, शिक्षा प्राप्त मनुष्य तथा वित्तीय पूंजी। शुल्ज ने मानवीय पूंजी शब्द का प्रयोग उच्च शिक्षा प्राप्त मानवीय पूंजी से किया है। राष्ट्र की जनसंख्या में जो सम्भावित शक्ति छिपी है, उसे विकसित करने हेतु जो व्यय किया जाता है, उसको अब केवल उपभोग या समाज कल्याण के प्रकार का व्यय नहीं माना जाता है। रूस, अमेरिका, जर्मनी तथा जापान में मानवीय पूंजी की कार्य कुशलता उन्नत करने से वहां के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है। इस दृष्टि से शिक्षा दीर्घकालीन विनियोग भी है।

मानवीय पूंजी में विनियोग

देश का आर्थिक विकास केवल प्राकृतिक साधन और भौतिक पूंजी पर आधारित नहीं बल्कि उसका वास्तविक कारण मनुष्य है। द्वितीय विश्वयुद्ध में विध्वंसित देश, जैसे—जर्मनी एवं जापान ने थोड़े ही समय में अपनी अर्थव्यवस्था को पुनः स्थापित कर लिया क्योंकि वहां की मानवीय पूंजी काफी उन्नत थी। इसलिए शिक्षा की सफलता अन्ततोगत्वा उसके द्वारा उत्पादित पुरुषों व स्त्रियों के सांस्कृतिक स्तर, उनकी व्यवसायिक निपुणता तथा उनके चरित्र पर निर्भर करती है।

शिक्षा के परिणामस्वरूप मनुष्य ज्ञान एवं कुशलताएं प्राप्त करता है और ये एक प्रकार की पूंजी है जो शिक्षा पर किये गये विनियोग का परिणाम है। अर्जित ज्ञान तथा कुशलताओं का आर्थिक मूल्य होता है क्योंकि ये तकनीकी दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों की उत्पादन उच्चता के प्रमुख कारण हैं। शिक्षा प्रणाली को राष्ट्रीय विकास से संबंधित करने का अर्थ है—शिक्षा के परिणामस्वरूप व्यक्ति की उत्पादन क्षमता में वृद्धि।

प्रश्न उठता है कि हम मानवीय विनियोग की मात्रा का किस प्रकार अनुमान लगाएं तथा शैक्षिक व्यय के उपभोग और विनियोग के मध्य किस प्रकार भेद करें। यह व्यय तीन प्रकार से हो सकता है— 1. वह व्यय जो केवल उपभोक्ता की संतुष्टि से संबंधित हो और किसी प्रकार की व्यक्ति की क्षमताओं में वृद्धि न करे, शुद्ध उपभोग प्रकार का व्यय है। 2. जो व्यय मानव क्षमताओं को उन्नत करता है और जो उपभोक्ता की संतुष्टि से संबंधित नहीं है, शुद्ध विनियोग है। 3. जिस व्यय का प्रभाव दोनों प्रकार का होता है वह अंशतः उपभोग और कुछ अंश में विनियोग कहलाता है।

मानवाधिकार और विश्वशांति

मानवाधिकार और विश्वशांति

समाज विकास के साथ एक विचार जिसे हम "मानवाधिकार" के नाम से जानते हैं पिछले लगभग 800 वर्षों से विकसित होता रहा है। सर्वप्रथम सन् 1215 में इंग्लैंड के राजा जॉन ने मानव अधिकारों पर पहला घोषणा-पत्र सर्वमान्य कानून बनाने की दृष्टि से जारी किया था। तत्पश्चात् पुनः ऐसे ही प्रयास 15 वीं सदी में फ्रांस और इंग्लैंड में हुए। मानवाधिकार के आधुनिक सिद्धान्त के जन्मदाता एच.जी. वैल्स थे जिन्होंने विश्व नागरिकों के अधिकारों व कर्तव्यों पर एक घोषणा-पत्र जारी करते हुए कहा था कि "प्रत्येक मनुष्य को जीने का अधिकार है, अल्पसंख्यकों के संरक्षण का अधिकार है, ज्ञान प्राप्ति का अधिकार है, विचारों व उपासना की स्वतंत्रता का अधिकार है, कार्य करने का अधिकार है, व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार है, व्यक्तिगत समृद्धि का अधिकार है, अहिंसा से मुक्ति का अधिकार है, कानून बनाने का अधिकार है तथा वे समाज के प्रति उत्तरदायी हैं।" वैल्स की इन्हीं धाराओं पर एक अन्तर्राष्ट्रीय कमेटी द्वारा विचार-विमर्श करने के पश्चात् इसका अन्तिम रूप नवनिर्मित संस्थान संयुक्त राष्ट्र द्वारा स्वीकार कर लिया गया तथा 10 दिसम्बर 1948 को पूरे विश्व में ये लागू कर दी गई। उसी दिन से 10 दिसम्बर मानवाधिकार दिवस के रूप में मनाया जाने लगा।

मानवाधिकारों को दो कालों में विभक्त किया गया—युद्धकाल के मानवाधिकार एवं शांतिकाल के मानवाधिकार।

(1) युद्धकाल के मानवाधिकार—

युद्धों के कानून बनाने के लिए दो विश्व प्रसिद्ध सम्मेलन हुए हैं—हेग सम्मेलन और जेनेवा सम्मेलन। हेग सम्मेलन में सर्वप्रथम यह प्रस्ताव पारित हुआ कि युद्धकाल में युद्धरत राष्ट्रों का शत्रु को नुकसान पहुंचाने का अधिकार असीमित नहीं है। जबकि जेनेवा कानून लड़ने वाले तथा असैनिक

(नागरिक) दोनों के प्रति मानवीय व्यवहार सुनिश्चित करने के उद्देश्य से प्रेरित है। हेग कानून में हथियारों पर प्रतिबंध लगाने की बात ही सम्मिलित है पर इस संदर्भ में अब तक किये गये प्रयास असफल ही रहे हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध में इस प्रथागत कानून को भी काफी धक्का लगा था जिसके अनुसार सैनिक तथा असैनिक व्यक्तियों के बीच भेद किया गया था।

इस विश्वयुद्ध ने नागरिक बस्तियों पर आक्रमण कर सर्वांगीण युद्ध के सिद्धान्त को जन्म दिया था। रेडक्रास इस सिद्धान्त के विरुद्ध लड़ता रहा। इन्स्टीट्यूट दे द्रोइन इंटरनेशनल ने कहा कि समग्र युद्ध के सिद्धान्त को स्वीकार भी कर लें तो भी काफी असैनिक लोग रह जाते हैं जैसे अशक्त, बूढ़े, गर्भवती स्त्रियां, बच्चे, बीमार-घायल इन पर तो आक्रमण नहीं किया जाना चाहिये। इस प्रकार इस संस्थान ने मानव सभ्यता के प्रभात में मानवता की सर्वप्रथम कानून-संहिता के निर्माता मनु के इन शब्दों का समर्थन किया कि सशस्त्र संघर्ष में उसे नहीं मारा जाना चाहिये जो सो रहा हो, नग्न हो और जो शस्त्रहीन हो। इन प्रयासों का सुफल तब सामने आया जब 19 दिसम्बर 1968 को असैनिक नागरिकों के विरुद्ध हमले पर रोक लगाई गई। सभी राष्ट्र इन नियमों का पालन करें इस हेतु संयुक्त राष्ट्र ने रेड क्रॉस को उत्तरदायित्व दिया।

(2) शांतिकाल के मानवाधिकार

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने शांतिकाल में मानवतावाद के महत्त्व पर बल देते हुए कहा है–"वह कानून जो व्यक्ति की गरिमा को सुनिश्चित करता है, उसकी रक्षा के लिए सदैव तत्पर है तथा उसके कल्याण व प्रगति को उच्चतम सीमा तक ले जाने को संभव बनाता है उस कानून को शांतिकाल में भी स्वीकृत किया ही जाना चाहिये।" वस्तुतः देखा जाए तो युद्ध से अधिक शांतिकाल में मानवता की विचारधारा सर्वोपरि है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद (3) में कहा गया है–"विश्व की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या मानवतावादी समस्या के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त किया जाए तथा जाति, भाषा, लिंग या धर्म का भेद किए बिना समस्त लोगों के लिए मानवाधिकारों एवं आधारभूत स्वतंत्रता के सम्मान को प्रोत्साहन दिया जाए।

इसी आधार पर मानवाधिकार आयोग ने नरसंहार पर रोक, जातिगत

भेदभाव का निवारण, शिक्षा में भेदभाव का निर्धारण, महिलाओं की स्थिति को सम्मानजनक बनाने, नागरिकताहीन व्यक्तियों व शरणार्थियों की स्थिति सुनिश्चित करने, दासता, व्यक्तियों के क्रय-विक्रय को समाप्त करने तथा रोजगार देने आदि के लिए विश्व समुदाय से अपील की।

1977 में महासभा ने कहा—"आर्थिक-सामाज़िक दृष्टि से भी सभी मानवों को समान अधिकार है इसलिए विश्व के संसाधनों का उपयोग भी विश्व समुदाय के लिए हो, न कि मात्र कुछ राष्ट्रों के लिए" क्योंकि मानव को अपने अस्तित्व का समान अधिकार है।

अतएव इस दृष्टि से युद्धकालीन और शांतिकालीन मानवाधिकार अविभाज्य एवं अंतर सम्बन्धित हैं और ठीक इसी तरह मानवाधिकार, निशस्त्रीकरण और शांति भी। मानवता को यदि जीवित रखना है तो हमें शांतिकाल के मानवाधिकारों पर अधिक बल देना होगा, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हम युद्धकाल के मानवाधिकारों का निषेध कर रहे हैं।

विश्व शांति के लिए आवश्यक है मानवीय गरिमा का आदर

लोकतंत्र का प्रथम आदर्श है—व्यक्ति की गरिमा का आदर करना

लोकतांत्रिक दर्शन अनेकतावादी है और वह प्रत्येक व्यक्ति को बेजोड़ मानता है। लोकतंत्र का विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति विलक्षण है। व्यक्तित्व का समादर तथा उसका विकास न केवल उन्नति के लिए आवश्यक है, अपितु समाज के लिए भी आवश्यक है। व्यक्ति अपने अद्वितीय व्यक्तित्व द्वारा समाज को अनुपम योगदान कर सकता है। समाज व राष्ट्र में अनेक ऐसे व्यक्ति होते रहे हैं, जिन्होंने अपने व्यक्तित्व से न केवल समाज को, न केवल राष्ट्र को बल्कि विश्व को प्रभावित किया है। गांधी, मार्टिन लूथर किंग आदि व्यक्तियों ने पूरे समाज व राष्ट्र की दिशा को ही बदला है। इसी प्रकार से अनेक ऐसे व्यक्ति इतिहास में हो गये हैं जिनके अनुपम योगदान को आज भी यह विश्व याद करता है। लोकतंत्र की यह मान्यता है कि ऐसे व्यक्तित्त्व का विकास हर व्यक्ति कर सकता है, उसे इसकी पूर्ण स्वतंत्रता है, इसलिए हमें मानवीय गरिमा का आदर करना ही चाहिए।

राज्य व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की भागीदारिता

लोकतंत्र का यह भी विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति उच्चतम पद पर पहुंचने का अधिकारी है तथा राज्य शासन में प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा है। इस दृष्टि से भी मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व का आदर अपेक्षित है। प्रत्येक व्यक्ति क्षमता के आधार पर समान है, पर उन क्षमताओं के विकास का तारतम्य हर प्राणी में अलग-अलग होता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो लोकतंत्र का उपरोक्त विश्वास और भी अधिक पुष्ट होता है। प्रत्येक व्यक्ति में यह सामर्थ्य है कि वह राष्ट्र के उच्चतम पद पर पहुंच सकता है, अपेक्षा है अपने सामर्थ्य को निरावरण करने की। व्यक्ति की गरिमा को स्वीकार करने से ही राष्ट्र के

शासन में उसकी भागीदारिता को भी स्वीकार किया जा सकता है अन्यथा विश्व में आज भी अनेक राष्ट्र हैं जहां मानवीय गरिमा का खुलकर विरोध होता है तथा जहां मानवता सिसकती है और राष्ट्र शासन में हिस्सा लेना तो उन लोगों के लिए एक स्वप्न ही होता है। इसलिए विश्वशांति व स्वस्थ लोकतंत्र के लिए भी हमें मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व को आदर देना होगा।

व्यक्ति का विकास स्वयं के पुरुषार्थ के कारण

लोकतंत्र में व्यक्ति जो कुछ है, अपने स्वयं के कारण है, न कि वंश परम्परा, जाति, धर्म अथवा अन्य किसी बाह्य कारण के फलस्वरूप। व्यक्ति जो कुछ बनना चाहता है, अपने प्रयत्न तथा पुरुषार्थ से बन सकता है, अतः इनकी शिक्षा में भी अध्यवसाय, स्वावलम्बन, धैर्य, आत्म-विश्वास आदि गुणों के विकास पर जोर दिया जाता है। आर्थिक गुणों की दृष्टि से परिश्रम, श्रम-निष्ठा, आलस्य के प्रति घृणा आदि भावों को विकसित किया जाता है। राजनैतिक दृष्टि से लोकतंत्र के आदर्शों के प्रति निष्ठा, कर्तव्य तथा अधिकारों के प्रति समर्पण आदि भावों को जागृत किया जाता है। इन गुणों के विकास के लिए सार्वभौम शिक्षा की व्यवस्था की जाती है, जिससे कि प्रत्येक बालक की विकास-संबंधी संभावनाओं का पता लगाया जा सके। इन संभावनाओं के आधार पर ही व्यक्ति अपना निर्माण स्वयं करता है। इसलिए भी व्यक्ति की गरिमा का आदर अपेक्षित है।

कांट के मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व के प्रति आदर से संबंधित विचार

जर्मन दार्शनिक कांट ने मनुष्य के व्यक्तित्व की स्वतंत्रता और उसके सम्मान से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया है। उनका यह सूत्र लोकतंत्र का प्राण है—"व्यक्ति को सदा ही साध्य समझा जाना चाहिए, किसी साध्य का साधन नहीं।" उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है—"इस प्रकार कार्य करो कि स्वयं तुम में तथा दूसरों में निहित मनुष्यता साधन मात्र न रहकर सदैव अपने आप में साध्य बनी रहे।" कांट का यह नियम बतलाता है कि हमें स्वयं अपनी तथा दूसरों की स्वतंत्रता एवं प्रतिष्ठा का पूर्ण सम्मान करना चाहिए। इसके अनुसार हमें अपने आपको केवल इच्छाओं की तृप्ति का तथा अन्य व्यक्तियों को केवल अपनी इच्छा तृप्ति का साधन मात्र कदापि नहीं मानना चाहिए।

बौद्धिक प्राणी होने के नाते प्रत्येक मनुष्य का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व तथा गरिमा होती है। इसे अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिए कुचलने का किसी

को अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त किसी व्यक्ति को यह अधिकार भी नहीं होना चाहिए कि वह दूसरों की इच्छाओं को तृप्त करने के लिए स्वयं अपने आपको साधन बनाकर अपने गौरव एवं स्वतंत्र व्यक्तित्व को नष्ट कर दे। इस प्रकार कांट का यह दर्शन हमें अपनी तथा अन्य सभी व्यक्तियों की मनुष्यता का सम्मान करने के लिए प्रेरित करता है।

बर्टण्ड रसल व मानवीय गरिमा

बर्टण्ड रसल ने कहा था—चूंकि मानव-प्रगति के मार्ग में एकतंत्रीय सत्ता विविध रूपों में सदैव बाधक रही है इसलिए मानव जाति के लिए उसकी वैयक्तिकं स्वतंत्रता व गरिमा के आदर की सर्वाधिक आवश्यकता रही है। साम्यवाद व फासीवाद इसलिए उपेक्षणीय है क्योंकि वे वैयक्तिक स्वतंत्रता और व्यक्ति की गरिमा को महत्त्व नहीं देते। रसल ने यह भी कहा कि हम तब तक सत्य पर नहीं पहुंच सकते जब तक कि मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व को समुचित आदर नहीं दें। क्योंकि इसके अभाव में हमें स्वतंत्र विचार एवं तर्क प्राप्त हो ही नहीं सकते। मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व को समुचित सम्मान देने का अर्थ है—व्यक्ति की रचनात्मक कार्य शक्ति को प्रेरित करना। रसल ने कहा कि जहां एक व्यक्ति दूसरे का शोषण करता हो, एक का पेट भरा व अन्यों का खाली हो तो ऐसी परिस्थितियों में मानवीय स्वतंत्रता का कोई औचित्य नहीं है।

विश्वशांति और मानवीय गरिमा

कांट और रसल के विचारों के सन्दर्भ में यदि वर्तमान परिस्थितियों पर चिन्तन करें तो हमें यह ज्ञात होगा कि विश्व की अशांति का मूल कारण मनुष्यता को साधन मान लेना है। अनेक विकसित राष्ट्रों ने अपनी आवश्यकताओं व इच्छाओं की पूर्ति के लिए मानवीय गरिमा का तिरस्कार किया है तथा अनेक ऐसे भूखे-नंगे लोग हैं जिन्होंने अपनी क्षुधा तृप्ति के लिए अपने मानवीय गौरव और व्यक्तित्व को इन तथाकथित विकसित राष्ट्रों के हवाले कर दिया है। दक्षिणी अफ्रीका, लेटिन अमेरिका के देश एवं अनेक इस्लामी राष्ट्र इसके सशक्त उदाहरण रहे हैं। मानवीय गरिमा को छीनने या उसे सौंप देने के कारण ही आज विश्व में कुविकास व नव्य उपनिवेशवादी धारणाओं को बल मिला है।

मानवता के प्रति गरिमा कभी भी दूसरों की इच्छाओं की पूर्ति के

साधन बनने की मनाही नहीं करती यदि वह कार्य कर्तव्य चेतना से प्रेरित होकर किया जाय। पर जब मनुष्य विवशतावश अपने आपको अथवा दूसरों को साधन मात्र मान लेता है और स्वयं विवश होकर दूसरों की इच्छाओं की पूर्ति करता है अथवा अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों को विवश करता है तब मानवीय गरिमा खतरे में पड़ जाती है। इसी आधार पर दासता, शोषण, धोखा, बलात्कार, हत्या आदि अनैतिक बनते हैं। क्योंकि इन सबमें मानवीय गरिमा का स्पष्टतः अनादर होता है तथा दुष्कर्म करने वाला व्यक्ति या राष्ट्र दूसरों को अपनी इच्छाओं की तृप्ति का साधन मात्र मान लेता है।

मानवीय गरिमा और व्यक्तित्व के आदर के पहले आत्म-तुला का भाव आवश्यक

मनुष्य जाति एक है—यही मानवीय गरिमा का आधार हो सकता है। इस सिद्धान्त की स्वीकृति के पश्चात् किसी के अधिकारों का हनन, किसी को मारना, कष्ट पहुंचाना, शोषण करना, तिरस्कार करना क्या स्वयं को मारने, सताने का कष्ट पहुंचाने का प्रयत्न नहीं है। जैन आगमों ने स्पष्ट घोषणा की है—पुरुष! जिसे तू हनन योग्य मानता है, जिसे तू परिताप योग्य मानता है, वह तू ही है। इस आत्मतुला की भूमिका पर ही मानवीय गरिमा का आदर पुरस्कृत हो सकता है। जाति, धर्म, वर्ग, वर्ण, प्रान्त, राष्ट्र, सत्ता आदि भेदों को यथार्थ व मुख्य मानकर पारस्परिक प्रेम, सद्भाव, विश्वास और न्याय की हत्या मानवीय मूल्यों की हत्या है, मानवीय गरिमा का अपमान है। इन आरोपित भेदों को वास्तविक मानकर किसी को हीन या शोषण योग्य या साधन मानना स्वयं की ही हीनता है। ये भेद प्रकृतिगत नहीं हैं बल्कि मनुष्यों द्वारा ही निर्मित हैं। अतः यदि हम हर मनुष्य/हर प्राणी को आत्मवत् समझें तो मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व के प्रति आदर सहज ही घटित होगा।

भारतीय और पाश्चात्य चिन्तन में मानवीय गरिमा

गीता, जैन, बौद्ध आदि भारतीय चिन्तन तथा यूनानी व पाश्चात्य चिन्तन में मानवीय गरिमा के प्रति आदर की बात को स्वीकारा गया है। यूनानी दार्शनिक प्रोटोगोरस ने कहा है—मनुष्य सभी चीजों का मापदण्ड है। बाईबिल में भी मानवीय गरिमा को इस रूप में बतलाया गया है—विश्राम के दिन मनुष्य के लिए बने हैं न कि मनुष्य विश्राम के दिनों के लिए। गांधीजी ने मानवीय गरिमा को स्वीकार करते हुए कहा है—सभी मनुष्यों का समान आदर हो, इससे ही

शोषण, अस्पृश्यता जैसी महामारियों का शमन हो सकेगा। कांट और रसल के विचारों को तो हम देख ही चुके हैं। गीता, जैन आदि वैदिक व श्रमण धाराएं मनुष्य की गरिमा को स्वीकार करती हैं और कहती हैं—सभी मनुष्य अपना स्वतंत्र विकास कर सर्वोच्च शिखर पर पहुंच सकते हैं।

अतः मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व का सम्मान केवल लोक़तांत्रिक़ मान्यताओं के लिए ही सार्थक नहीं है बल्कि विश्व में अशांति का कारण असमानता को दूर करने के लिए तथा मानवीय गरिमा की पुनः प्राप्ति के लिए ही संयुक्त राष्ट्र ने मानवाधिकार आयोग की स्थापना की है। यह सही है कि मानवता के प्रति आदर न होने से तथा मनुष्य को अपनी स्वार्थ पूर्ति का साधन समझ लेने से ही आज विकसित व विकासशील व अविकसित राष्ट्रों के बीच की खाईयां चौड़ी हुई हैं तथा इसी के परिणामस्वरूप रंगभेद, जाति भेद, नव्य उपनिवेशवाद आदि कुरीतियों का सूत्रपात हुआ है। अतः विश्वशांति के लिए अपेक्षा है कि हमारी शिक्षा ऐसी हो जो मानवीय गरिमा के प्रति आदर सिखलाये तथा व्यक्तित्व की स्वतंत्रता में विश्वास करे।

विश्व नागरिकता और नये विश्व समाज की आवश्यकता क्यों?

पिछले दो विश्व युद्धों ने मानवता के संहार का जो भयावह रूप प्रस्तुत किया है, उससे यह अनायास ही सोचना पड़ता है कि मानवता को यदि सुरक्षित रखना है तो उसे अनिवार्य रूप से युद्ध के संकट से बचाना होगा। विश्व को सुन्दर व सुखमय जीवन जीने के योग्य बनाना है तो इसे युद्ध की संभावनाओं से बचाना होगा। सम्पूर्ण विश्व एक बन्धुत्व के सूत्र में बंधे और प्रत्येक व्यक्ति भौगोलिक, देशीय, जातीय, धार्मिक आदि संकीर्ण मान्यताओं से ऊपर उठकर सम्पूर्ण मानव जाति के प्रति सद्भाव रखे, तब ही विश्व शांति स्थापित हो सकती है। विश्व शांति व विश्व नागरिकता की आवश्यकता इसलिए भी है कि आज का विंश्व अत्यधिक सीमित होता जा रहा है। आवागमन के साधन, संचार की सुविधा आर्थिक अन्तार्श्रितता, तकनीकी आदान-प्रदान आदि विश्व नागरिकों तथा राष्ट्रों को एक-दूसरे के निकट ला रहे हैं, इसलिए आचार्य विनोबा भावे ने आज के युग को संश्लेषण युग कहा है।

भारतीय चिन्तन ने सदैव सम्पूर्ण चर-अचर को एक सूत्र में बांधने का प्रयास किया है। सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार के रूप में देखने और विश्व बन्धुत्व की मान्यता को आगे बढ़ाने का ध्येय सदा से ही भारतीय दर्शन का आधार रहा है। इस मान्यता क़े पीछे सम्पूर्ण जीवों में आत्मा की उभयनिष्ठता प्रधान रही है। इस अर्थ में सभी मानव चाहे वे किसी देश के हों, जाति के हों, धर्म के हों, उनमें मतभेद नहीं बल्कि उनके सह-अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। परन्तु आज विश्व समाजों में जो कठोर व संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना ने जन्म ले लिया है, वह समाजों और व्यक्तियों को अलग-अलग सीमाओं में बांट देता है। संकीर्ण राष्ट्रीयता की अनिवार्य परिणति युद्ध है, अतः विश्व नागरिकता और एक शांतिपूर्ण विश्व का विकास होना ही चाहिए। रोमा

रौला के शब्दों में—"भयंकर विनाशकारी दो युद्धों ने कम से कम इस तथ्य को स्थापित कर ही दिया है कि प्रचण्ड आक्रमणकारी राष्ट्रीयता को समाप्त कर देना चाहिए और दीवार रहित व वर्ग-विहीन मानवता का संघ बनाना चाहिए ताकि, प्रेम, दया और सहानुभूति की भूमि पर मानवीय संबंधों का विकास किया जा सके।

विश्व नागरिकता और नये विश्व व्यवस्था की संकल्पना का विकास

इस संकल्पना का विकास सर्वप्रथम जरमी बेन्थम ने किया। उन्होंने राष्ट्रों के सार्वभौमिक रूप में मतभेदों व झगड़ों को सुलझाने हेतु विश्व न्यायालय की संकल्पना प्रस्तुत की। कोमेनियस दूसरा विचारक था, जिसने सम्पूर्ण विश्व में न्याय और शांति की स्थापना के लिए सभी के लिए शिक्षा तथा विश्व सरकार की बात रखी। कांट ने विश्व शांति के लिए सभी देशों के एक संघ की आवाज उठाई। कोपरनिक्स, गैलीलियो, केपलर, न्यूटन आदि वैज्ञानिकों की खोजों ने राष्ट्रीयता की सीमाएं लांघ ली। इससे देश, जाति, धर्म और अनेक सीमाओं का खण्डन हुआ और मानवता को एक सूत्र में बांधने का क्रम शुरू हुआ। इनके पश्चात् डारविन ने यह सिद्ध कर दिया कि सभी मनुष्य चाहे काले हों या गोरे सभी का उद्‌गम एप्स जाति का बंदर है। इस आधार पर उन्होंने सभी मनुष्यों में एकसी क्षमता और संभावनाओं को स्वीकार किया। मार्क्स का वर्गविहीन समाज का नारा विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था की भावना को आगे बढ़ाने में मील का पत्थर साबित हुआ और वर्तमान में परमाणु अस्त्र-शस्त्रों के कारण हिंसा की समग्रता ने विश्वनागरिकता और शांतिपूर्ण विश्व के विचार को आवश्यक बना दिया है।

भारत में विश्व नागरिकता की संकल्पना बहुत पहले से रही है। "वसुधैव कुटुम्बकम्"—सारा विश्व परिवार है, "सर्वे भवन्तु सुखिनः"—सारा विश्व सुखमय हो आदि सूत्र भारतीय दृष्टिकोण व चिन्तन को स्पष्ट करते हैं।

विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था के लिए इन मान्यताओं का होना ही पर्याप्त नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्तियों में उदारता, संवेदनशीलता, सहयोग आदि की भावना विकसित हो।

विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था की संकल्पना

यह संकल्पना विश्व मैत्री और बन्धुत्व पर आधारित है। द्वितीय विश्व युद्ध

के बाद यह भावना बनी कि विश्व शांति के लिए राष्ट्रों व उनके प्रतिनिधियों के मध्य समझ और सौहार्दता ही पर्याप्त नहीं है बल्कि देशों के निवासियों में भी परस्पर समझ और सौहार्दता होना भी अत्यन्त जरूरी है। गोल्ड स्मिथ ने कहा है—"अन्तर्राष्ट्रीयता एक भावना है जो व्यक्ति को यह बताती है कि वह अपने राज्य का ही सदस्य नहीं बल्कि विश्व का नागरिक भी है।" अब विश्व समाज द्वारा जो युद्ध छेड़ना है, वह होगा—अज्ञानता के विरुद्ध, गरीबी के विरुद्ध, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध, भुखमरी के विरुद्ध, बीमारी के विरुद्ध, दमनात्मक क्रिया-कलापों के विरुद्ध जो मानवता को संकीर्ण घेरे में बांधती है। अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव हेतु दो आवश्यक शर्तें होंगी—

1. सभी व्यक्तियों में यह इच्छा और अभिलाषा उत्पन्न करना कि वे एक जैसे विश्व समाज में साथ-साथ रहेंगे। जहां सभी को समान न्याय बिना किसी जाति, जन्म, राष्ट्रीयता, वर्ग, धर्म और रंग की मान्यताओं के आधार पर प्राप्त होगा।

2. सामान्य हितों और आपसी समझ द्वारा स्थापित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु सम्मिलित प्रयासों की ओर प्रत्येक को तत्पर और प्रेरित होना होगा।

विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था हेतु शिक्षा की आवश्यकता

संकुचित राष्ट्रीयता ने विश्व के दो विश्व युद्ध देखे हैं। सरकार की आर्थिक और राजनैतिक धारणाओं पर आधारित शांति दीर्घकालिक व सर्वमान्य नहीं होती। यदि विश्व शांति और सह-अस्तित्व के प्रयासों को स्थायी बनाना है तो इसे मानवता की बौद्धिकता और नैतिक सुदृढ़ता पर आधारित करना होगा। यूनेस्को के प्रियेम्बल में यह स्वीकृत है कि युद्ध मनुष्यों के मस्तिष्क में उपजता है तो निश्चय ही शांति भी उसी मस्तिष्क की उपज होगी। अज्ञानता और गलतफहमियां व्यक्तियों व राष्ट्रों में डर और भ्रम पैदा करते हैं, अतः अज्ञानता को दूर कर और परस्पर समझ को विकसित कर अन्तर्राष्ट्रीय शांति का वातावरण बनाया जा सकता है। यह भार निर्विवाद रूप से शिक्षा पर है।

विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था के विकास के लिए शिक्षा के निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किये जा सकते हैं—

1. निस्वार्थता का विकास—शिक्षा द्वारा छात्रों में निजी हितों को सामान्य हितों के लिए त्याग की भावना जागृत करनी चाहिए।

2. छात्रों में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का विकास हो जिससे वे पूर्व

धारणाओं या अभिमतों के शिकार न हों तथा दूसरे मतों व दृष्टिकोणों के प्रति उदार व सहिष्णु हों।

3. छात्रों में संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना न भरी जाय। उन्हें यह बोध देना आवश्यक है कि वर्तमान समय में अपने देश का संसार से अलग होकर अस्तित्व संभव नहीं है।

4. मनुष्यों के अन्योन्याश्रित संबंध को स्पष्ट करना चाहिए। संसार के प्रत्येक प्राणी एक दूसरे पर आश्रित हैं। परस्परोपग्रहो जीवानाम्—सभी प्राणी एक-दूसरे को उपकृत करते हैं।

5. मानवता में विश्वास उत्पन्न किया जाय, जिससे व्यक्ति एक-दूसरे को छोटा-बड़ा नहीं समझेगा तथा सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित होगी।

6. अन्य राष्ट्रों की संस्कृतियों का ज्ञान एवं उनका आदर करें।

विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था के लिए पाठ्यक्रम

हमारे पाठ्यक्रम में कुछ विषय ऐसे होते हैं जो स्वभावतः ही अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव के विकास व शिक्षण के लिए प्रचुर सामग्री व संभावनाएं रखते हैं, जैसे—इतिहास, भूगोल, राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, साहित्य, समाज-शास्त्र आदि। इन विषयों की विषय-वस्तु ऐसी है जो हमें मानव समाज में अपनी स्थिति को समय और परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में सोचने-समझने की पर्याप्त सामग्री प्रदान करती है। इन विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय प्रस्तुतीकरण के साथ पाठ्यक्रम में निम्नलिखित बिन्दुओं पर भी ध्यान देना अपेक्षित है—

- सम्पूर्ण पृथ्वी का ज्ञान।
- सभी नागरिकों के रहन-सहन का ज्ञान।
- विश्व संस्कृतियों का ज्ञान।
- जीवन शैली का परिचय।
- विश्व के प्रमुख धर्मों की जानकारी।
- विश्व के बिखरे सौन्दर्य का ज्ञान।
- मानव के शांति स्थापित करने के अब तक के प्रयास आदि।

पाठ्येतर कार्यक्रम

विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था के विकास की संभावनाएं पाठ्येतर क्रियाओं में अधिक होती हैं। क्योंकि इन क्रियाकलापों में छात्रों की

सहभागिता स्वेच्छा पर निर्भर होती है। प्रार्थना, भ्रमण, पर्यटन, प्रदर्शन, संस्कृति व साहित्यिक प्रतिस्पर्धाएं उन्हें एक-दूसरे के निकट लाती है, तथा एक-दूसरे की अच्छाईयों को जानने व अपनाने का अवसर भी मिलता है।

संयुक्त राष्ट्र दिवस, मानवाधिकार दिवस, साक्षरता दिवस आदि अनेक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के समारोहों का आयोजन विश्व नागरिकता के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय ज्वलन्त समस्याओं जैसे रंग-भेद की नीति, फिलीस्तीन मुक्ति संघर्ष, निशस्त्रीकरण, पर्यावरणीय प्रदूषण आदि को लेकर वाद-विवाद, नाटकीय रचना द्वारा इन समस्याओं से परिचित कराया जा सकता है तथा उन्हें इससे निष्पक्ष मत बनाने में भी सुविधा मिलती है तथा नई विश्व व्यवस्था के निर्माण में भी सहयोग मिलता है। प्राकृतिक प्रकोपों के समय कार्य, विकलांगों आदि की सहायता से परस्पर उदारता, सहिष्णुता, प्रेम, दया, सहानुभूति आदि मूल्यों के विकास से भी विश्व-शांति के विचारों को बल मिलता है।

विश्व नागरिकता के लिए यूनेस्को के प्रयास

सयुक्त राष्ट्र सघ ने यूनेस्को की स्थापना कर विश्व नागरिकता और नये विश्व के निर्माण का दृष्टिकोण विकसित किया है। यूनेस्को के अनुसार "चूंकि युद्ध का प्रारम्भ मनुष्य के मस्तिष्क में होता है इसलिए मनुष्य के मस्तिष्क में ही शांति स्थापित करनी चाहिए। यूनेस्को ने इस दृष्टि से तीन उद्देश्यों को पूर्ण करने का प्रयत्न किया है—

1. विश्व राष्ट्रों में पारस्परिक ज्ञान तथा अवबोध उत्पन्न करना।
2. संस्कृति तथा शिक्षा का प्रसार करना।
3. ज्ञान की सुरक्षा, वृद्धि और प्रसार करना।

मनुष्य दो विश्वयुद्ध के परिणामों को भोगने के बाद तीसरे विश्व युद्ध को नहीं चाहता। वह शांति चाहता है। शांतिकाल में ही उच्च कोटि की कला व संस्कृति का निर्माण होता है। युद्ध तो कला व संस्कृति का संहारक है। अब युद्ध का खतरा मोल लेना मानवता के विनाश का खतरा मोल लेना है। मानवता का कल्याण विश्वशांति में ही है। हिंसा की समग्रता ने तथा आर्थिक, वैज्ञानिक व तकनीकी, राजनैतिक व सामाजिक घटकों ने विश्व को करीब लाने और सहयोग व सद्‌भाव को विकसित करने में अहं भूमिका निभाई है। पर वह शिक्षा ही है जो विश्व नागरिकता व नई विश्व व्यवस्था को साकार कर सकती है।

जीवन के प्रति सम्मान— अल्बर्ट स्वेजर

अल्बर्ट स्वेजर एक ऐसे जर्मन दार्शनिक हैं जिन्होंने पाश्चात्य दर्शन में नैतिकता के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किया। स्वेजर से पूर्व दार्शनिकों की यह मान्यता थी कि नैतिकता का क्षेत्र केवल मानव है। इसलिये व्यवहारों के औचित्य और अनौचित्य का प्रश्न केवल मानव जगत् से ही उठता है। मानवेतर प्राणियों के प्रति व्यवहार का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। अल्बर्ट स्वेजर ने भारतीय दर्शन और विशेषकर जैन दर्शन से प्रभावित होकर नैतिकता का विस्तार सम्पूर्ण प्राणियों के लिए किया। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि नैतिक और अनैतिक व्यवहार का प्रश्न केवल मानव जगत् तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसका सम्बन्ध अन्य प्राणियों के प्रति मानव द्वारा किये गये व्यवहारों से भी है। स्वेजर ने नैतिकता के क्षेत्र में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उसे हम जीवन के प्रति सम्मान (Reverence for life) के नाम से जानते हैं।

अल्बर्ट स्वेजर ने डेकार्ट के इस सिद्धान्त का खण्डन किया—"मैं सोचता हूं इसलिये मैं हूं" उन्होंने कहा—"मैं जीवन हूं, जिसे मैं उन प्राणियों के मध्य रहकर जीना चाहता हूं जो जीना चाहते हैं।" अर्थात् मनुष्य जीना चाहता है और वह अकेले नहीं जीना चाहता बल्कि उन सभी जीवों के बीच जीना चाहता है जो मनुष्य की भांति ही जीना चाहते हैं। "मैं जीना चाहता हूं" कथन से अल्बर्ट स्वेजर का यह अभिप्राय है कि मनुष्य में रहस्यात्मक उन्नति की चाहत है, जिसे हम एक शब्द में सुख (Pleasure) कहते हैं।

भगवान् महावीर ने कहा—कोई भी मनुष्य दुःख नहीं चाहता। जिस प्रकार तुम सुख की चाहत रखते हो, उसी प्रकार अन्य जीव भी सुख की चाहत रखते हैं दुःख की नहीं। स्वेजर के अनुसार वही मनुष्य नैतिक है, जो सभी जीवों की हर प्रकार से सहायता करने का दायित्व बोध अपने ऊपर लेता है। जहां तक उसमें क्षमता हो, वह दूसरे प्राणियों की सहायता करे तथा किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुंचाये। दूसरे शब्दों में उनका कहना है कि जीव चाहे छोटा हो या बड़ा सबका जीवन पवित्र है (Life is sacred)। इससे स्पष्ट है कि अल्बर्ट स्वेजर निषेधात्मक और भावात्मक दोनों रूप से अहिंसा का प्रतिपादन करते हैं। निषेधात्मक रूप से अहिंसा के अन्तर्गत सभी प्राणियों की हिंसा (हत्या एवं दुःख देना) का निषेध करते हैं और भावात्मक रूप से सभी प्राणियों के उन्नत जीवन जीने में सहायता करने का समर्थन

करते हैं।

प्रश्न है कि अल्बर्ट स्वेजर व्यक्तिगत जीवन से सार्वभौम जीवन की सुरक्षा का सिद्धान्त क्यों प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः तो वे सभी जीवन की अखण्डता में विश्वास करते हैं। वे मानते हैं कि सभी प्राणी एक-दूसरे के लिए उपयोगी हैं, इसलिए उनके प्रति प्रेम और उनके जीवन का सम्मान हमारा धर्म हो जाता है। केवल मनुष्य ही एक-दूसरे के लिए मूल्यवान नहीं है, पशु-पक्षी, छोटे जीव भी मनुष्य के लिए मूल्यवान है। उदाहरणार्थ हम मानव कल्याण के लिए कुछ जीवों पर प्रयोगशाला में प्रयोग करते हैं, उनको यातना देते हैं, उनकी हत्या कर उनकी चीरफाड़ करते हैं और उसके आधार पर मानव के लिए हितकर सिद्धान्त की स्थापना करते हैं अथवा अमूल्य औषधि का निर्माण करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि हर जीव मनुष्य के लिए उपयोगी है। उन्हें उपयोगी जानकर हमें उनकी सुरक्षा करनी चाहिए। उन्हें कष्ट नहीं देना चाहिए। जानबूझकर उनका शोषण नहीं करना चाहिए और यदि अपरिहार्य कारणवश हम उनकी हिंसा करते हैं तो इसके लिए पश्चाताप तो करना ही चाहिये, साथ ही साथ इस कर्म को दूर करने के लिए भावात्मक रूप से भी कदम उठाना चाहिये।

अल्बर्ट स्वेजर के अनुसार अहिंसा की नीति का आधार बाहरी जीव नहीं बल्कि अन्तरात्मा है। इसलिए उनकी दृष्टि में दया जो विशेष रूप से दूसरों के प्रति की जाती है, नैतिकता की दृष्टि से बहुत ही संकीर्ण है। नैतिकता के अन्तर्गत अपनी हर परिस्थितियों में सुखमय जीवन की आकांक्षा रहती है तथा दूसरों के सुखमय जीवन में सहायक बनकर अपनी आत्मा को पूर्ण करने की चेतना होती है।

अहिंसा सभी प्राणियों के प्रति प्रेम है। प्रेम का अर्थ सुख-दुःख एवं प्रत्येक प्रयत्नों में सभी के प्रति भाईचारेपन का अनुभव करना है। हर जीवन के प्रति सम्मान हमारे जीवन की मूल प्रेरणा है, दिशा निर्देशक शक्ति है तथा सहानुभूति, प्रेम तथा अन्य सभी मूल्यवान उत्साहों का आधार है। परन्तु दुःख की बात है कि यह संसार एक ऐसा दुःखान्त नाटक है कि जिसमें हर व्यक्ति जीवन के विरुद्ध ही जीना चाहता है, एक-दूसरे की वेदी पर अपना अस्तित्व कायम रखना चाहता है। तभी जीवन के प्रति सम्मान का सिद्धान्त इससे भिन्न नाटक की कल्पना करता है। इस नाटक में अपनी जिजीविषा के अन्तर्गत दूसरे की जिजीविषा का ज्ञान भी सम्मिलित है। इसमें सम्पूर्ण जीवन को सार्वभौम बनाने की दृष्टि से एकता स्थापित करने की आकांक्षा रहती है। इसलिये जीवों के प्रति सम्मान के नीतिशास्त्र का अर्थ है—अपने जीवन का सम्मान करना और अपने जीवन से इतर जीवन का सम्मान करना।

अल्बर्ट स्वेजर कहते हैं कि वही व्यक्ति अपनी आन्तरिक स्वतंत्रता का अनुभव करता है जो दूसरे के जीवन की स्वतंत्रता के संरक्षण में सहायक

है। यहां स्वेजर की स्थिति जैन दर्शन की उन भावनाओं से है, जहां कहा गया है—अन्तःकरण की विशुद्धता और बाह्य रूप से अन्य प्राणियों के प्रति दया दोनों अहिंसा व्रत के पालन के लिए आवश्यक है।

सामान्यतः हम क्षमा और सहिष्णुता को भी अहिंसा के अन्तर्गत लेते हैं, परन्तु प्रश्न है कि हमें क्षमा क्यों करनी चाहिये? स्वेजर का मानना है कि हम दूसरों को क्षमा नहीं करते, अपने आपको क्षमा करते हैं। उनका कहना, अच्छाइयां और बुराइयां सब में है। सामान्यतः कोई हम पर गुस्सा करता है, गाली देता है, मारता है या अन्य प्रकार से अहित करता है, तो हम इसका बदला लेना चाहते हैं। स्वेजर कहते हैं कि उससे बदला लेने से पूर्व मुझे सोचना होगा कि मैं किसी पर गुस्सा करता हूं या नहीं, मैं किसी को गाली देता हूं या नहीं, मैं किसी को मारता हूं या नहीं। और यदि मुझमें किसी न किसी परिमाण में ये दोष हैं तो इसका अर्थ है—दूसरे के द्वारा किये अहितकर व्यवहार को क्षमा करना, अपने आपके द्वारा किये गये अहितकर व्यवहार को क्षमा करना है। नीतिशास्त्र में दो प्रकार की युक्तियां काम में लाई जाती हैं—पर-समर्थक और स्व-समर्थक। अल्बर्ट स्वेजर स्व-समर्थक युक्ति पर विश्वास करते हैं और इस प्रकार की युक्ति श्रेष्ठ मानी जाती है। उनका कहना है—किसी भी व्यवहार पर दूसरों के आधार पर निर्णय नहीं किया जा सकता बल्कि अपने व्यवहार के आधार पर ही निर्णय किया जा सकता है।

वे कहते हैं—दूसरे के प्रति दया करके मैं भद्र, शान्त और क्षमाशील नहीं हूं बल्कि उस व्यवहार के कारण हूं, जिसके द्वारा मैं गहरी आत्मानुभूति की सत्यता को प्रमाणित करता हूं। अल्बर्ट स्वेजर नैतिकता के सम्बन्ध में और विशेषकर जीवन के प्रति सम्मान के सिद्धान्त में सापेक्ष नैतिकता को नहीं मानते, उनके अनुसार शुभकर्म हर अवस्था में दूसरे के जीवन की प्रगति को देखता है। किसी भी परिस्थिति में अन्य प्राणी को कष्ट देना या हत्या करना उनकी दृष्टि में पाप है। यह ठीक है कि अपने अस्तित्व की रक्षा करने के लिए अनिवार्यतावश व्यक्ति को दूसरे जीवों की हत्या करनी पड़ती है, परन्तु यह उसकी अनिवार्यता है, नैतिकता नहीं। नैतिकता का तकाजा है—सोच समझकर किसी जीव की हत्या न करें या दुःख न पहुंचायें। जिस प्रकार जैन दर्शन में प्रमाद को हिंसा का मूल कारण माना गया है, अल्बर्ट स्वेजर भी असावधानी (प्रमाद) को ही हिंसा का मूल कारण मानते हैं। इसलिये वे दूसरे जीवों के प्रति संवेदनशील होने की शिक्षा देते हैं और यथासंभव उनके कल्याण का दायित्व व्यक्ति के स्वयं के निर्णय पर छोड़ देते हैं। इसी दायित्व बोध में अहिंसा का निवास है।

अतएव अल्बर्ट स्वेजर के दर्शन में अहिंसा का आधार सभी जीवों की समता है, जीवन की अखण्डता है, जीवों की परस्पर पूरकता है और अहिंसा का सार मानव के द्वारा अपनाये गये संयम में निहित है।

अहिंसा-प्रशिक्षण के सूत्र

मानवीय संवेग हिंसा के लिए उत्तरदायी

संवेग प्राणी की उत्तेजित अवस्था है। ऐसी उत्तेजनाएं प्रायः आकस्मिक और तीव्र होती हैं। संवेगात्मक उत्तेजना की तीव्रता इतनी अधिक होती है कि इस उत्तेजना के बने रहने तक प्राणी के अन्य सभी व्यवहार अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। संवेग की इसी विशेषता के कारण मनोवैज्ञानिकों ने इसे एक विध्वंसात्मक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। हर प्रेरणा के साथ किसी न किसी संवेग का संबंध जुड़ा रहता है। जैसे आक्रामकता एवं कलहप्रियता के साथ क्रोध का, पलायन के साथ भय के संवेग का संबंध। संवेग में प्राणी के पास अतिरिक्त शक्ति होती है जिसे वह प्रेरणा की तृप्ति हेतु व्यय कर सकता है। संवेगात्मक स्थिति में हमारे अन्दर एक प्रकार की हलचल मच जाती है तथा साथ ही हमारी शारीरिक क्रियाओं में भी परिवर्तन होता है। भय के समय हम घबरा जाते हैं तथा घबराहट के कारण हमारी मुखाकृति पीली हो जाती है, शरीर कांपने लगता है। इसी प्रकार क्रोध की स्थिति में हमारी मुखाकृति लाल हो जाती है तथा श्वास की गति तीव्र हो जाती है।

संवेग दो प्रकार के हैं—सुखद एवं दुखद। सुखद संवेदनों से सृजनात्मक प्रवृत्ति बढ़ती है जबकि दुखद संवेदनों से विध्वंसात्मक प्रवृत्ति। लोभ, भय, शत्रुता आदि दुखद संवेदन हैं जो विध्वंसात्मक हैं तथा ये हिंसा एवं युद्ध के लिए भी जिम्मेदार हैं।

युद्ध या हिंसा सार्वभौमिक है, यह सदैव होती रही है। अनेक देशों के पुराण व इतिहास इसके प्रमाण हैं। ये युद्ध, धर्म, प्रतिरोध, अस्तित्व, स्वतंत्रता, भोजन, भूमि, स्त्री, गौरव, लिप्सा आदि के लिए लड़े गए हैं। एलिक्स स्ट्रेची ने कहा है—"इन सबको देखते हुए व इस प्रकार से देखने से लगता है कि युद्ध करने की आवश्यकता मनुष्य के लिए कोई स्वदेशी वस्तु है। वह एक

ऐसी चीज है जो अन-उन्मूलनीय है तथा मानव मस्तिष्क में इसकी जड़ें गहरी हैं और युद्ध को समाप्त करने के प्रयास निरर्थक हैं।" मूलतः यदि देखा जाए तो हिंसा या युद्ध का मुख्य कारण मानव स्वभाव की इच्छाएं और वासनाएं हैं। चूंकि मानवीय इच्छाओं और वासनाओं को नियन्त्रित/संयमित किया जा सकता है, इसलिए निश्चित ही शांति के प्रयास सार्थक हैं।

हॉब्स ने युद्ध या हिंसा के तीन कारण बतलाए—

1. प्राप्ति की इच्छा (Desire for gain)
2. क्षति का भय (Fear of injury)
3. बहादुरी से प्रेम (Love of glory)

हॉब्स के बताये ये तीनों कारण संवेगों पर आधारित हैं। कुछ प्राप्ति की इच्छा लोभ का संवेग है। क्षति या अपमान का भय, भय का संवेग है। बहादुरी की प्रशंसा मिथ्याभिमान का संवेग है। और ये तीनों ही हिंसा या युद्ध के कारण हैं। हिंसा का पहला प्रयोग स्वयं को दूसरे व्यक्तियों या पशुओं आदि का स्वामी बनाने के लिए होता है। हिंसा का दूसरा प्रयोग स्वामित्व को सुरक्षित रखने के लिए होता है और हिंसा का तीसरा प्रयोग उन्हें यह महसूस कराने में होता है कि उन्हें कम आंका जा रहा है।

कुछ संवेगों को विस्तार से देखें—

लोभ (Greed)

सुकरात ने कहा था—"लोग सरल जीवन पद्धति से संतुष्ट नहीं होते। वे सोफा, मेज तथा अन्य उपस्कर (फर्नीचर) इकट्ठा करते रहेंगे। हमें आवास, वस्त्र तथा भोजन जैसी आवश्यकताओं से आगे बढ़ जाना चाहिए, उसके पश्चात् हमें अपनी सीमाओं को बढ़ाना चाहिए क्योंकि मूल स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती .... और जो प्रदेश अपने निवासियों का भरण-पोषण करने में काफी था, वह अब उसके लिए छोटा हो जाएगा, काफी नहीं रहेगा.......... तब हम पड़ोसियों की जमीन का टुकड़ा हथियाना चाहेंगे। यदि हमारी तरह उनकी भी आवश्यकताएं सीमा को पार कर जायें और वे स्वयं धन के असीमित संचय के लिए लग जाएं तो परिणाम होगा—युद्ध।"

जब व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं/अनिवार्यताओं से विलासिताओं की ओर

बढ़ने लगते हैं तो परिणाम संघर्ष के अलावा और हो भी क्या सकता है। आवश्यकता ने हमें अस्त्र दिये पर प्रतिस्पर्धा उनमें विविधता लाई तथा उनके किनारों को और ज्यादा नुकीला किया।

आर्य लोग लालचवश ही भारत आये। अंग्रेजी शासन को रोडेशिया एवं ट्रांसवल की स्वर्ण-खाने, भारत का जूट तथा बर्मा का रबड़ खींच लाया। न जाने लालच के वशीभूत हो कितनी हिंसा हुई है? इसी संवेग ने व्यक्ति की दृष्टि में अन्य सब प्राणियों को उसका भोग्य बना दिया।

क्रूरता (Cruelty)

मेक्डूगल के अनुसार मूल प्रवृत्तियां मानवीय स्वभाव पर शासन करती हैं। यदि शक्तिशाली लोगों में लड़ने की प्रवृत्ति है तो शांति कभी भी सम्भव नहीं। विलियम जेम्स के अनुसार—युयुत्सा (युद्ध की इच्छा) व्यक्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त होती है। अस्तित्व के संघर्ष में केवल वही जातियां जीवित रहीं जो युद्धप्रिय थी।

रोटी और रोजगार ने व्यक्ति को इतना क्रूर बना दिया कि वे किलिंग प्रोफेसन की ओर जाने को बाध्य हो गये। बर्नार्डशा लिखते हैं—प्रारम्भ में कोई भी इज्जतदार औरत ऐसे किसी व्यक्ति से शादी नहीं करती थी जो कुछ लोगों या पशुओं को मौत के घाट नहीं उतार देता था।

वर्तमान में नागरिक स्वयं ही सेना गठन करते हैं, उनके लिए पैसा चुकाते हैं तथा उन सैनिकों की जानें उनके लिए बंधक होती हैं। हम यह नहीं सोचते कि वे भी हमारे ही भाई हैं। उनकी प्रवृत्ति भी क्रूर नहीं थी, मारने की नहीं थी। पर धीरे-धीरे हमने उन्हें प्रशिक्षण दिया और क्रूर बना दिया। आज के युद्ध साधनों ने उनकी चेतना को लुप्त कर दिया है। कुत्ते-बिल्ली से घबराने वाला मनुष्य इतना क्रूर बन जाता है।

आज तो क्रूरता मनोरंजन बनती जा रही है। स्वयंसेवी नागरिक युद्ध को मनोरंजन हेतु देखना चाहते हैं ताकि उन्हें समाजसेवा का मौका मिले। प्राचीन समय में और आज भी अरब राष्ट्रों में पशुओं को आपस में लड़ाकर क्रूरतापूर्ण मनोरंजन किया जाता है। क्रूरता की हद तब हो जाती है जब अबोध शिशुओं को पशुओं की पीठ पर बांधकर पशुओं को उकसाने का कार्य उनसे लिया

जाता है तथा स्वयं की विलासिताओं व प्रसाधनों के नाम पर अबोध व करुण पशुओं की जानें ले ली जाती हैं।

आर्थिक जगत् में शोषण भी क्रूरता का उदाहरण है। बिना क्रूरता के शोषण संभव नहीं हो सकता, रिश्वत लेना संभव नहीं हो सकता। सामाजिक व्यवहारों में यह क्रूरता मालिक-नौकर के संबंधों के बीच, सास-बहू के रिश्ते के बीच देखी जा सकती है। दहेज के नाम पर बहुओं को जलाने की घटनाएं क्रूरता का उत्कर्ष है।

मिथ्याभिमान (Vanity)

अडोर्नो के अनुसार जिन व्यक्तियों में यह सोचने की अतिरंजित प्रवृत्ति होती है कि उनका अपना समूह अथवा जाति अन्य समूहों या जातियों से अत्यन्त श्रेष्ठ है, उन लोगों का सामान्य दृष्टिकोण रूढ़िवादी होता है। वे शक्ति की प्रशंसा व पराजितों से घृणा करते हैं। अर्थात् जो व्यक्ति स्वयं को उच्च मानते हैं वे युद्ध प्रिय होते हैं तथा हिंसा में उनका विश्वास होता है। राजनीतिज्ञों का यह मानना है कि चीन का भारत पर आक्रमण इसलिए नहीं हुआ था कि वे भूमि हड़पना चाहते थे, बल्कि चीन भारत को अपनी श्रेष्ठता बतलाना चाहता था।

इतिहासकार यहां तक कहते हैं कि योद्धाओं और विजेताओं के गुणगान, रामायण, महाभारत, हिटलर, मुसोलिनी आदि ने ही सशस्त्र व प्रशिक्षित अपराधियों को पैदा किया है। कार्लिल व नीत्शे के हीरो-वरशिप के विचार ने न जाने कितने मिथ्याभिमान को जन्म दिया है। हिटलर अपनी सर्वशक्तिमान सेना के बावजूद भी पौलेण्ड व बेल्जियम में हार गया लेकिन उसके मिथ्याभिमान ने न जाने कितनों का खून बहाया।

कई व्यक्तियों व राष्ट्रों में वरिष्ठता की भावना भी होती है जिससे वे सोचते हैं—सम्पूर्ण सृष्टि उनके भोग के लिए है। उनके इस वरिष्ठता के विचार ने विश्व में जातिभेद, रंगभेद, उच्च-निम्न आदि की दीवारें खड़ी की हैं। ब्रिटिश लोग यह कहा करते थे—हम एक महान् शक्ति रखते हैं, जहां सूर्य कभी अस्त नहीं होगा, तब कमजोर राष्ट्र उनका आदर क्यों नहीं करे। उन राष्ट्रों को तो हमारा शुक्रिया अदा करना चाहिए क़ि हम उन्हें अच्छी सरकार देते हैं।

नेपोलियन भी विश्व-व्यवस्था को अच्छा करने के मिथ्याभिमान के कारण ही विश्व पर चढ़ाई करता था। फिख्ते लिखते हैं—जर्मन विशिष्ट हैं क्योंकि उन्हीं के पास शुद्ध भाषा है और भाषा चरित्र के तुल्य है। इसलिए ऐसे व्यक्तियों को दूसरों पर शासन करना ही चाहिए। अतः स्पष्ट है कि किस तरह यह महद्भाव ग्रंथि तथा मिथ्याभिमान का संवेग मनुष्य को हिंसा और युद्ध की ओर धकेलता है।

असहिष्णुता (Intolerance)

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को सहन नहीं करना चाहता। एक धर्म दूसरे धर्म को सहन करना नहीं चाहता। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को सहन नहीं करना चाहता। परिणाम होता है हिंसा—संघर्ष—युद्ध। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच असहिष्णुता है जिससे पारिवारिक व सामाजिक कलह देखने को मिलती है। एक धर्म दूसरे धर्म के प्रति असहिष्णु है। परिणाम है साम्प्रदायिक हिंसा। धार्मिक असहिष्णुता के कारण न जाने कितने युद्ध लड़े गये हैं, कितना खून बहा है। ईराक-ईरान का युद्ध धार्मिक असहिष्णुता का ही परिणाम है। भारत में वर्तमान साम्प्रदायिक आग धार्मिक असहिष्णुता का ही परिणाम है।

राष्ट्रों की असहिष्णुता तो जगजाहिर है। पूंजीवादी राष्ट्र समाजवादी राष्ट्रों को नहीं चाहता। एकतंत्र शासन पद्धति के लोग लोकतंत्र को नहीं चाहते। राष्ट्रों की इस असहिष्णुता ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक लम्बे शीतयुद्ध को जन्म दिया था तथा इसी असहिष्णुता ने नाटो, सीटो व वार्सा जैसे सैनिक संगठनों को जन्म दिया था।

क्रोध (Anger)

व्यक्ति क्रोध के संवेग के कारण आक्रामक प्रवृत्ति को अपनाता है। क्रोध विवेकहीनता का कारण है। जिससे व्यक्ति हेय-उपादेय की दृष्टि को खो देता है तथा आक्रमण करना चाहता है। गीता में भी कहा गया है— क्रोध में व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। उसे उचित-अनुचित का ध्यान नहीं रहता। वस्तुतः मनुष्यता एक उच्च गुण है किन्तु क्रोध में व्यक्ति पाशविक वृत्ति को अपना लेता है। इस पाशविक वृत्ति के कारण व्यक्ति दूसरों को तो नुकसान पहुंचाता ही है पर वह स्वयं को भी नुकसान पहुंचाता है। यह

क्रोध का ही परिणाम है कि व्यक्ति आत्महत्या तक पहुंच जाता है।

इस प्रकार व्यक्ति के स्वयं के संवेग भय, लोभ, सत्ता व धन का मद आदि बातों पर युद्ध को पसन्द करने वाला स्वभाव निर्भर करता है। स्वार्थवृत्ति, आकांक्षाएं, घृणा, द्वेष आदि मानव स्वभाव में पशुता की जड़ें हैं। पर जीवन मात्र संघर्ष नहीं है, जीवन सहयोग है। 19 वीं तथा 20 वीं शती अस्तित्व के लिए संघर्ष, प्रतिस्पर्धा, वर्ग-संघर्ष, विरोध आदि शब्दों में ही गुजर गई। इस शती में डार्विन व सैनिक दिमाग वाले व्यक्तियों का प्रभुत्व रहा, जिन्होंने घृणा का, क्रूरता का सिद्धान्त दिया पर 21 वीं शती अस्तित्व के लिए संघर्ष पसन्द नहीं करेगी, उसका विश्वास मानवीय सहयोग में होगा, जो दुखद संवेदनों पर नियन्त्रण से ही संभव हो पाएगा।

अहिंसा का सैद्धान्तिक आधार

अहिंसा क्या है?

सभी प्रकार के जीवों के प्रति संयमपूर्वक जीवन-व्यवहार ही अहिंसा है। मन, वचन और काया—इनमें से किसी एक के द्वारा किसी प्रकार के जीवों की हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है। ऐसे जीवन का निरन्तर धारण ही अहिंसा है। कुछ दार्शनिक संयमपूर्वक जीवन-व्यवहार से तात्पर्य सभी प्रकार के जीवों के प्रति करुणाभाव से लेते हैं। गांधीजी ने भी अहिंसा का यही अर्थ लिया है। इनके अनुसार सर्व-जीवों के प्रति सद्भावना ही अहिंसा है या समस्त जीवों के प्रति दुर्भावना का पूर्ण तिरोभाव ही अहिंसा है।

निष्क्रिय और सक्रिय अहिंसा

अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है—हिंसा न करना। अहिंसा के पारिभाषिक अर्थ निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनों हैं। राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति न करना, प्राण-वध न करना या प्रवृत्ति मात्र का निषेध करना निषेधात्मक अहिंसा है। जबकि सत्-प्रवृत्ति और विधेयात्मक अहिंसा से हिंसा का निषेध भी होता है। हिंसा न करने वाला यदि आन्तरिक प्रवृत्तियों को शुद्ध न करे तो वह अहिंसा नहीं होगी। इसलिए निषेधात्मक अहिंसा में सत्प्रवृत्ति की अपेक्षा रहती है और विधेयात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध भी रहता है। व्यवहार में निषेधात्मक अहिंसा को निष्क्रिय अहिंसा और विधेयात्मक अहिंसा को सक्रिय अहिंसा कहा जाता है।

अहिंसा के दो पक्ष

अहिंसा के दो पहलू हैं—

1. अहिंसा का सैद्धान्तिक पक्ष।
2. अहिंसा का व्यवहारिक पक्ष।

अहिंसा के सैद्धान्तिक पक्ष में अहिंसा के दार्शनिक सत्यों का

अवबोध कराया जाता है जबकि अहिंसा के व्यवहारिक पक्ष में उपयोगिता प्रेरित या स्वार्थप्रेरित अहिंसा का समावेश होता है। यहां हमारा विवेच्य विषय है—अहिंसा का सैद्धान्तिक पक्ष क्यों ? जब तक अहिंसा का सैद्धान्तिक पक्ष मजबूत नहीं होता, व्यवहार डगमगा जाता है।

अहिंसा का सैद्धान्तिक स्वरूप

अहिंसा-प्रशिक्षण में स्वरूप का निर्धारण किया जाए तो उसके दो रूप हो सकते हैं—सैद्धान्तिक और प्रायोगिक। सैद्धान्तिक प्रशिक्षण में दार्शनिक सत्यों का अवबोध कराया जाता है। अहिंसा के दार्शनिक पहलू अनेक हैं। यहां कुछ ऐसे दार्शनिक बिन्दुओं का उल्लेख किया जा रहा है, जिनको समझे बिना अहिंसा के प्रशिक्षण का कोई आधार भी नहीं बनता। दार्शनिक पृष्ठभूमि पर अहिंसा की मूल्यवत्ता प्रमाणित करने वाले पांच बिन्दु हैं—

1. आत्मा का अस्तित्व।
2. आत्मा की स्वतंत्रता।
3. आत्मा की समानता।
4. जीवन की सापेक्षता।
5. सह-अस्तित्व।

1. आत्मा का अस्तित्व

आत्मा के अस्तित्व को स्वीकृत किये बिना अहिंसा का कोई आधार नहीं बनता। इसलिए "आत्मा है" इसकी स्वीकृति आवश्यक है। भौतिक अस्तित्व की प्रतिक्रिया ने मनुष्य को आत्मिक अस्तित्व की ओर गतिमान किया। उसे इस सत्य की दृष्टि प्राप्त हुई कि चेतन का अस्तित्व अचेतन से स्वतंत्र है। इस विचार ने सामाजिक विकास के सामने आत्मिक विकास और राजतंत्र के सामने आत्म-तंत्र का प्रथम सूत्रपात किया। इस सूत्रपात ने अहिंसा का मूल्य परिवर्तन कर डाला। सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ था—मनुष्यों तथा मनुष्योपयोगी पशु-पक्षियों को न मारना अर्थात् आंशिक अहिंसा थी। और न मारने का लक्ष्य था—सामाजिक सुव्यवस्था का निर्माण तथा स्थायित्व। जबकि आत्मिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ हुआ—हिंसा का पूर्ण निषेध—किसी प्राणी को न मारना, न मरवाना और मारने वाले का अनुमोदन भी नहीं करना। अर्थात् जैसे-जैसे आत्मा, आत्मोदय और मुक्ति का दर्शन विकसित हुआ वैसे-वैसे अहिंसा व्यापक होती चली गई।

2. आत्मा की स्वतंत्रता

प्रत्येक आत्मा का सुख-दुःख अपना-अपना है। इस दृष्टि से आत्मा स्वतंत्र है। चूंकि सभी आत्माएं स्वतंत्र हैं, इसलिए किसी भी प्राणी के हनन का अधिकार किसी को भी नहीं है। सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। इसलिए किसी भी प्राणी को कष्ट देने का अधिकार हमें नहीं है। इसलिए आवश्यक हिंसा भी हिंसा ही है, उसे अहिंसा की कोटि में नहीं रखा जा सकता। जिस तरह से हमारा अस्तित्व स्वतंत्र है, उसी तरह से क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी का अस्तित्व भी स्वतंत्र है। अस्तित्व की दृष्टि से सभी स्वतंत्र हैं। इसलिए किसी की भी स्वतंत्रता का हनन करना हिंसा है। आत्मा की स्वतंत्रता को स्वीकार कर लेने में अहिंसा को व्यापकता मिलती है।

3. आत्मा की समानता

यद्यपि आत्मा अनन्त हैं तथा उनकी कर्मकृत अवस्थाएं भिन्न-भिन्न हैं पर स्वरूप की अपेक्षा से सब आत्माएं समान हैं। समानता का यह सिद्धान्त मनुष्य तक ही सीमित नहीं है। संसार में जितने प्राणी हैं, उन सबकी आत्मा समान है। सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय की वृत्ति प्राणी मात्र में समान होती है। अहिंसा की भावना को समझने और बलवान बनाने के लिए आत्मा की समानता का सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। भगवान् महावीर ने कहा—प्राणी मात्र को आत्म तुल्य समझो। हे पुरुष ! जिसे तू मारने की इच्छा करता है, जिस पर शासन करने की इच्छा करता है, जिसे अपने वश में करने का विचार करता है—वह तेरे जैसा ही प्राणी है।" आचारांग में कहा गया है—"जैसे मुझे कोई बेंत, हड्डी, कंकर आदि से मारे, पीटे, ताड़ित करे, दुःख दे, व्याकुल और भयभीत करे, प्राणहरण करे तो मुझे दुःख होता है, ठीक इसी तरह सभी प्राणियों को भी होता है—यह सोचकर किसी भी प्राणी को नहीं मारना चाहिए, उन पर हुकूमत नहीं करनी चाहिए।" गांधी जी के अनुसार—जैसी अपेक्षा दूसरों से अपने लिए करते हो, वैसा ही बर्ताव उनके प्रति तुम करो। आत्मौपम्य की यही सार्थकता है।

अस्तित्व, ज्ञान और वीर्य की सामर्थ्य की दृष्टि से सभी आत्माएं समान हैं। यदि इस समानता के सिद्धान्त को समझ लें तो—

- छोटे जीवों की बलि के द्वारा बड़े जीवों को बचाने की बात अहिंसा को मान्य नहीं हो सकती।

● मनुष्य को बचाने हेतु दूसरे जीवों की हिंसा अहिंसा को मान्य नहीं हो सकती।

● रंग, भेद, जाति-भेद आदि के आधार पर अत्याचार अहिंसा के दृष्टि से मान्य नहीं हो सकते।

4. जीवन की सापेक्षता

कोई भी व्यक्ति या प्राणी निरपेक्ष रहकर अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता। इसी कारण जीवन को सापेक्ष माना गया है। सापेक्षता का यह सिद्धान्त प्रकृति के कण-कण में लागू होता है। कोई भी प्राणी तथा वस्तु एवम् वस्तु व्यवस्था सापेक्षता की मर्यादा से बाहर नहीं है। गाल्टुंग ने शांति को अविभाज्य कहा है। उसने शांति के पांच रूप बतलाये हैं—विश्वशांति, व्यक्ति की शांति, समाज की शांति, प्रकृति की शांति और संस्कृति की शांति। ये सभी परस्पर सापेक्ष हैं। एक की अशांति दूसरे की अशांति का कारण बन जाती है। इसलिए अहिंसा की अवधारणा को व्यापकता प्रदान करने की दृष्टि से जीवन की सापेक्षता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। निरपेक्षता को स्वीकार करने का अर्थ है—क्रूरता को, हिंसा को स्वीकार करना, इसलिए सभी प्राणियों की अपेक्षा करो। सापेक्षता से स्नेह बढ़ता है, निरपेक्षता खिंचाव लाती है। सापेक्षता है तो शोषण नहीं होगा, अपराध नहीं होगा, युद्ध और हिंसा नहीं होगी।

वर्तमान में जब हिंसा समग्र होती जा रही है, तब जीवन की सापेक्षता का मूल्य भी समझ में आ रहा है। प्रत्येक राष्ट्र को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए दूसरे राष्ट्रों के अस्तित्व की भी अपेक्षा है। यही कारण है कि आज विकसित व समृद्ध राष्ट्र अविकसित व जरूरतमंद राष्ट्रों के सहयोग करने के लिए तत्पर हो रहे हैं। जीवन की सापेक्षता को स्वीकार कर लिया जाय तो बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों तथा बड़ों के लिए छोटों का बलिदान उचित नहीं ठहराया जा सकता।

5. सह-अस्तित्व

मैं रहूंगा या वह रहेगा, अहिंसा की परिधि में इस चिन्तन को स्थान नहीं मिल सकता। मैं भी रहूंगा, वह भी रहेगा—इस प्रकार सह-अस्तित्व की भाषा में सोचना अहिंसा का दर्शन है। "सब जीव समान हैं और मनुष्य जाति एक है"—सहअस्तित्व को व्यापक रूप देने के लिए इस धारणा की व्यापक प्रतिष्ठा आवश्यक है। यदि यह भावना पुष्ट नहीं हुई तो जातिवाद, रंगभेद, सम्प्रदायवाद,

अलगाववाद आदि के नाम पर हिंसा होती ही रहेगी।

आचार्य उमास्वामी का एक प्रसिद्ध सूक्त है—"परस्परोपग्रहो जीवानाम्।" परस्परता की अनुभूति सह-अस्तित्व के संबंध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र है। प्रत्येक प्राणी में कुछ साम्य है और कुछ वैषम्य भी। केवल वैषम्य को प्रधान मान लेने से दूसरे को मिटाने की बात आएगी और केवल साम्य को प्रधान मान लेने से ऐकांतिक आग्रह जन्म लेगा। दोनों का परिणाम होगा—कलह। महावीर ने कहा—नित्य-अनित्य, सामान्य-असमान्य, वाच्य-अवाच्य, सत्-असत् जैसे विरोधी युगल का सहअस्तित्व संभव है। यदि सहअस्तित्व का विचार पुष्ट होता है तो—दूसरे के स्वत्व का अपहरण मान्य नहीं हो सकता। वर्ग-विग्रह, अन्तर्राष्ट्रीय विग्रह को मान्यता नहीं मिल सकती। इसलिए अहिंसा की व्यापकता का आधार सह-अस्तित्व की मान्यता है।

अहिंसा के उपर्युक्त सैद्धान्तिक पक्ष को समझ लिया जाय तो अहिंसा को व्यापकता मिल सकती है और सैद्धान्तिक पक्ष को समझकर ही प्रायोगिक पृष्ठभूमि मजबूत की जा सकती है। विश्वशांति का आधार भी यही है।

मस्तिष्क परिवर्तन के सूत्र

मस्तिष्क परिवर्तन की आवश्यकता क्यों?

आज विज्ञान और मनोविज्ञान द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि मानवीय संवेग हिंसा या युद्ध के लिये जिम्मेदार है। इन संवेगों के कारण प्राणी के अन्य सभी व्यवहार अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। संवेगों की इस विशेषता के कारण मनोवैज्ञानिक संवेगों को एक विध्वंसात्मक शक्ति के रूप में भी स्वीकार करते हैं। हॉब्स ने युद्ध या हिंसा के तीन कारण बतलाये हैं और ये तीनों ही मानवीय संवेगों या भावनाओं पर आधारित हैं—

1. प्राप्ति की इच्छा (Desire for Gain)
2. क्षति का भय (Fear of injury)
3. बहादुरी से प्रेम (Love of Glory)

कुछ प्राप्ति की इच्छा लोभ का संवेग है। क्षति या अपमान भय का संवेग है, बहादुरी की प्रशंसा मिथ्याभिमान का संवेग है। सुकरात ने भी लोभ आदि संवेगों या पदार्थ के प्रति आसक्ति को हिंसा या युद्ध का मूल माना है। जब व्यक्ति पदार्थ की आसक्ति के कारण अपनी आवश्यकताओं से विलासिताओं की ओर बढ़ने लगता है तो हिंसा अवश्यंभावी हो जाती है। भय का संवेग व्यक्ति में असुरक्षा की भावना पैदा करता है और इस असुरक्षा की भावना के कारण वह आक्रामक हो जाता है, अस्त्र-शस्त्र जुटाता है। क्रूरता का संवेग व्यक्ति को पेशेवर हत्यारे के रूप में बदल देता है। शत्रुता का भाव व्यक्ति में अविश्वास पैदा करता है। जिससे वह स्वयं को सदैव असुरक्षित पाता है। अतः स्पष्टतः मानव मस्तिष्क के ये संवेग हिंसा या युद्धों के जिम्मेदार हैं। जब तक मनुष्य के इन संवेगों को नियंत्रित नहीं किया जाता, इन निषेधात्मक भावों की जगह विधेयात्मक भावों को स्थापित नहीं किया जाता, तब तक अहिंसा या शांति की बात फलित नहीं हो सकती। इसलिए मानव मस्तिष्क

के परिवर्तन की आवश्यकता है।

परिवर्तन का साधन अनुप्रेक्षा व भावनाएं

मन की मूर्छा तोड़ने वाले विषयों का अनुचिंतन करना अनुप्रेक्षा कहलाता है। जिस विषय का अनुचिंतन बार-बार किया जाता है या जिस प्रवृत्ति का अभ्यास बार-बार किया जाता है, उससे मन प्रभावित होता है, इसलिए उस अनुचिन्तन या अभ्यास को भावना कहते हैं। मनुष्य जिसके लिए भावना करता है, जिस अभ्यास को दोहराता है उसी रूप में उसका संस्कार निर्मित हो जाता है। प्राचीन आगमों में "भावितात्मा" शब्द का प्रयोग हुआ है। भावितात्मा होने के पश्चात् व्यक्ति जो होना चाहता है, वह होकर रहता है। यह सारा एकाग्रता का चमत्कार है। हम जो होना चाहते हैं, हो जाते हैं। अर्थात् जिस रूप में मन को बदलना चाहते हैं, बदल लेते हैं। स्वसम्मोहन का प्रयोग, ऑटोसजेशन का प्रयोग—ये सब भावना के द्वारा सम्मोहित होने के ही प्रयोग हैं। पहले शरीर को देखना फिर संकल्प और भावना के प्रयोग द्वारा बदलने की भावना को अवचेतन तक पहुँचा देना—यही है रूपान्तरण की प्रक्रिया, मस्तिष्क को बदलने की प्रक्रिया।

भावना की आज की भाषा में अर्थ है—ब्रेनवाशिंग। अर्थात् पुराने विचारों की जगह नये विचारों को भर देना। ब्रेनवाशिंग हेतु स्वतः सूचन (Auto Suggestion) की पद्धति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सुझाव के द्वारा हमारी चेतना बदलना शुरू कर देती है तथा चेतना में परिवर्तन होने से आदतें बदली जा सकती हैं, संवेग बदले जा सकते हैं। एक ही बात को जब हम बार-बार दोहराते हैं, उस भावना की बार-बार आवृतियां करने से तंरगें पैदा होती हैं जो पुराने संस्कारों को उखाड़ देती हैं तथा नये संस्कारों का सृजन हो जाता है।

भावना का वैज्ञानिक स्वरूप

भावना का अर्थ मात्र सोचना नहीं है। इसका अर्थ है हमारे ज्ञानतंतुओं को, हमारी कोशिकाओं को अपने वशवर्ती कर लेना, उन पर अपनी भावनाओं को अंकित कर देना। हमारे मस्तिष्क में खरबों न्यूट्रान हैं। ये न्यूट्रान ही नियामक हैं। भावना के द्वारा जो संकल्प न्यूट्रान तक पहुँच जाता है वह संकल्प सफल हो जाता है। मन की शक्ति के जागरण में इन ज्ञानतंतुओं का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मुख्य भावनाएं या अनुप्रेक्षाएं

मस्तिष्क परिवर्तन के लिए अनासक्ति, अभय, मैत्री, क्षमा, मृदुता और करुणा की भावनाएं महत्त्वपूर्ण हैं। पदार्थों के प्रति आसक्ति व्यक्ति को लालची बनाती है तथा व्यक्ति के प्रति आसक्ति राग-द्वेष का कारण बनती है—ये दोनों ही हिंसा के कारण हैं इसलिए अनासक्ति की भावना महत्त्वपूर्ण है। भय के संवेग को दूर करने के लिए अभय की भावना, शत्रुता के संवेग को दूर करने के लिए मैत्री-भावना तथा क्षमा-भावना, आक्रामक व्यवहार को खत्म करने के लिए मृदुता की भावना एवं क्रूरता के संवेग को मिटाने के लिए करुणा की भावना महत्त्वपूर्ण है।

अनासक्ति

इन्द्रियों के विषय क्षणिक सुख देने वाले हैं, पर इनके भोग का परिणाम अन्ततः दुःखद होता है। व्यक्ति परिणाम को जानते हुए भी इन्द्रियों के विषयों के प्रति आसक्त रहता है। महाभारत में कहा गया है—व्यक्ति धर्म को जानते हैं फिर भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करते, अधर्म को भी जानते हैं लेकिन वह छोड़ा नहीं जाता। क्यों? क्योंकि व्यक्ति मोहग्रस्त है, आसक्त है।

आवश्यकता पूर्ति हेतु पदार्थों के प्रति आकर्षण सहज है पर पदार्थों के प्रति आसक्ति असहज है। आसक्ति आवश्यकता नहीं है, व्यामोह है। शांति का अनुभव कर चुका व्यक्ति कभी भी आसक्त नहीं होगा। स्थूलभद्र वेश्या के घर पर रहते हुए भी अनासक्त रहे, पथभ्रष्ट नहीं हुए जबकि विश्वामित्र, पराशर आदि ऋषि पत्ते खाते हुए जंगल में रहे लेकिन वे पथच्युत हो आसक्त हो गये।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में दुःख आता है, आपदाएं आती हैं, प्रकोप आते हैं, कोई उन्हें रोक नहीं पाता। लेकिन इनसे होने वाले दुःखद संवेदनों से स्वयं को बचाया जा सकता है। घटनाएं घटेंगी पर व्यक्ति इनके साथ नहीं जुड़ेगा। घटना का ज्ञान व्यक्ति को होगा वह अवचेतन तक नहीं पहुंचेगी। व्यक्ति यह सोचेगा कि मैं दुःख भोगने के लिए नहीं जन्मा हूँ, इस चिन्तन से पदार्थों से होने वाले संवेदन स्वतः ही समाप्त हो जायेंगे। यही है—अनासक्त योग। अनासक्ति का अर्थ है—पदार्थ के साथ जुड़ी चेतना का छूट जाना।

सामान्यतः हर मनुष्य प्रिय-अप्रिय संवेदनों में जीता है। जब तक प्रियता-अप्रियता, राग-द्वेष या आसक्ति का आवरण नहीं हटेगा दर्शन संभव

नहीं होगा। इसलिए अनासक्ति भाव से देखें, तटस्थता से देखें। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है— मैं उदासीन की भांति आसीन हूँ, कर्मों में अनासक्त हूँ। इसलिए वे मुझे नहीं बांधते। अतः संवेदना व्यक्ति का मूल स्वभाव नहीं है, ज्ञाता-द्रष्टा भाव का विकास ही उसका उदय है।

अभय

भय की भावना को निरस्त करने के लिए अभय की भावना का विकास आवश्यक है। आज प्रायः हर व्यक्ति भयाक्रान्त है। क्योंकि सर्वत्र प्रमाद है, असत्य है, विस्मृतियां हैं। भगवान् महावीर ने कहा है—प्रमादी को सब तरफ से भय होता है, अप्रमादी भयमुक्त है। प्रमाद इसलिए है क्योंकि केवल बुद्धि का जागरण है, प्रज्ञा सोई हुई है। बुद्धि भय को मिटा नहीं सकती बल्कि भय को और अधिक सूक्ष्मता से पकड़ लेती है। इसलिए प्रज्ञाविहीन व्यक्ति में बुद्धि जितनी प्रखर होगी उतना ही अधिक भय होगा। उदाहरणतः सामान्य व्यक्ति कम भयभीत हैं पर एक पढ़े-लिखे व्यक्ति एवं वैज्ञानिक आदि के सामने अनेकों संकट हैं। उनके सामने ऊर्जा का संकट है, आबादी का संकट है, पर्यावरण का संकट है, परमाणु अस्त्रों का संकट है, जबकि सामान्य व्यक्ति इन भयों से परे है। भयभीत व्यक्ति सुरक्षा की कोशिशें करता है। विकसित राष्ट्र भयभीत है कि एक दिन उनका विकास ही उन्हें न लील जाये। अविकसित राष्ट्र इसलिए भयभीत हैं कि उनकी गरीबी उन्हें युद्धों की ओर धकेल रही है। समृद्ध को धनरक्षा का भय है, गरीब पेट की आग से भयभीत है।

भय-अभय का वैज्ञानिक आधार

भय के कारण अनुकम्पी नाड़ी तंत्र प्रभावित होता है, जिसका परिणाम है उत्तेजना। जबकि अभय से परानुकम्पी नाड़ी तंत्र सक्रिय होता है जिसका परिणाम है शांति, सुख का अनुभव। व्यक्ति के जैसे भाव होते हैं उसकी मुद्रा भी उसी तरह की हो जाती है। भय से व्यक्ति की एड्रिनल ग्रंथि सक्रिय होती है और उसके स्राव व्यक्ति को आक्रामक बना देते हैं।

अभय कैसे बनें

अभय बनने के लिए अभय की भावधारा विकसित करनी होगी जिसका सशक्त साधन है—अभय की अनुप्रेक्षा। अभय की अनुप्रेक्षा द्वारा अभय की तरंगें उत्पन्न होती हैं जो भय की तरंगों को निरस्त करती है। गेल्वेनोमीटर द्वारा व्यक्ति के असत्य को भय की तरंगों द्वारा ही पकड़ा जाता है।

अभय के लिए सर्वप्रथम शरीर के भय से मुक्ति आवश्यक है। शरीर के प्रति ममत्व भय का प्रमुख कारण है। शरीर के प्रति ममत्व का विसर्जन अभय का द्वार है। जितनी सहिष्णुता सधती है उतना ही अभय का विकास होता चला जाता है।

अभय और अहिंसा

कायर व्यक्ति कभी भी अहिंसक नहीं बन सकता। कायरता व्यक्ति की मानसिक कमजोरी है जो हिंसा को बढ़ावा देती है। निर्भयता अहिंसा का प्राण है। अभय व्यक्ति ही अहिंसा का पालन कर सकता है।

मृदुता

मान के संवेग को नष्ट करने के लिए मृदुता का अभ्यास जरूरी है। मृदुता (कोमलता) सामूहिक जीवन की सफलता का सूत्र है। मृदु स्वभाव में लोच होती है जिससे इस स्वभाव का व्यक्ति किसी भी वातावरण को अपने अनुकूल बना लेता है। वह न केवल अपने जीवन को बल्कि आसपास के वातावरण को भी सरस बना देता है। जो कार्य कठोर अनुशासन से नहीं होते, मृदुता से सहज ही हो जाते हैं।

मनुष्य की तीन बड़ी दुर्बलताएं हैं—क्रूरता, विषमता एवं स्वयं को हानि पहुँचाने की वृत्ति। इनमें क्रूरता का पहला स्थान है। क्रूरता के कारण ही शोषण, मिलावट, पशुवध, वनों की कटाई, दहेज हत्याएं, आदि अनेक आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक अपराध होते हैं। वर्तमान की अधिकांश समस्याएं व विरोधाभास क्रूरता के कारण हैं। व्यवहार परिवर्तन या परिष्कार का अर्थ है—व्यवहार में क्रूरता की जगह कोमलता-मृदुता का विकास। यही प्रशस्त जीवन है।

मैत्री

विश्वबंधुत्व का पहला सूत्र है मैत्री। ईसा ने कहा शत्रु के साथ भी मैत्री करो। महावीर ने कहा—किसी को शत्रु मानो ही मत। यद्यपि व्यक्ति-व्यक्ति में भेद है। उनमें रूचि, चिन्तन, व्यवहार, व्यवस्था, रहन-सहन, खान-पान आदि भेद है, लेकिन इन भेदों के कारण शत्रुता पनपे, यह अवांछनीय है। भगवान् महावीर ने कहा—दूसरों के साथ बुरा व्यवहार करने से स्वयं तुम्हारा ही अनिष्ट होता है। मैत्री की भावना से कभी कोई किसी का अनिष्ट नहीं करता। मैत्री भाव का साधन स्वयं को कष्ट में डाल देगा पर दूसरों को कष्ट नहीं दे सकता।

मानवीय संबंधों की पहली कठिनाई–शत्रुता है। शत्रुता का कारण दोषारोपण है। हम दूसरों से द्वेष ही नहीं रखते अपितु स्वयं के कर्त्तव्य को भुलाकर दूसरों में दोष देखते हैं। व्यक्ति दूसरों के भय के कारण उनसे शत्रुता रखता है जबकि अभय से मैत्री फलित होती है। "मेरा सबके साथ मैत्री भाव है, कोई मेरा शत्रु नहीं है" जैसे-जैसे यह भाव विकसित होता है सर्वत्र प्रसन्नता व्याप्त हो जाती है। मैत्री का सम्पूर्ण अर्थ केवल प्रेम ही नहीं है, अपितु सबके अस्तित्व को स्वीकार करना है। जो है, जैसा है, उसे वैसे ही स्वीकार करना, सत्यान्वेषी बनना है। मैत्री का विराट् रूप जब सामने आता है तो द्वेष रहता ही नहीं है। सभी प्राणियों को अपने समान समझने का भाव जागृत हो जाता है।

मानवीय संबंधों की दूसरी कठिनाई कठोरता है। हमें छोटों के साथ कठोर व्यवहार करना चाहिए—इस धारणा ने सामजिक संपर्क व संबंधों में दरार पैदा कर दी है। हम यह भूल गए हैं कि मैत्री भाव के द्वारा आदमी को जितना प्रेरित किया जा सकता है उतना कठोरता से नहीं किया जा सकता। सद्भावना से तो पेड़-पौधे भी जल्दी विकसित होते हैं। इसलिए जीवन को सफल बनाने के लिए उसमें सौरभ व सरसता भरनी चाहिए।

करुणा

दूसरों के दुःखों को दूर करने की इच्छा करुणा है। मानव स्वभाव की ऐसी इच्छाओं को हटाना जो दूसरों के लिए तथा अपनी खुशी के लिए हानिकारक हैं। करुणा इस चिन्तन का परिणाम है कि प्राणी कैसे दुखी है। दुःखी, पीड़ित और त्रस्त व्यक्ति को देखकर जो करुणा का भाव जाग्रत होता है, वह यह सूचना देता है कि आपका चित्त कोमलता, मृदुता और प्रेम से शून्य नहीं है।

करुणा का संबंध संवेदनशीलता से है। व्यक्ति में जितनी संवेदनशीलता है उतना ही करुणा का विकास होगा। व्यक्ति में जितनी असंवेदनशीलता होगी, उतना ही वह क्रूर होगा। क्रूरता का कारण लोभ, संग्रहवृत्ति, अमानवीय दृष्टिकोण आदि है। क्रूरता का निदान है—मानवीय दृष्टिकोण का निर्माण,

आत्मौपम्य दृष्टि तथा प्रत्येक प्राणी को अपने समान समझने का दृष्टिकोण।

आजकल क्रूर व्यवहार को बड़प्पन समझा जाने लगा है। सत्ता और शक्ति के मद में व्यक्ति छोटों के साथ क्रूर व्यवहार कर बड़प्पन समझता है। इसी कारण रिश्वत व भ्रष्टाचार जैसी क्रूरताएं पनपती हैं। जब सत्ता और शक्ति का दुरूपयोग बन्द हो जाए, तब यह समझना चाहिए कि मानवीय दृष्टिकोण का विकास हुआ है और मानवीय दृष्टिकोण के निर्माण से ही छोटों के प्रति क्रूरता खत्म हो सकेगी। जब करुणा की ज्योति जलती है तब अन्याय मिट जाते हैं। इसलिए सामाजिक और आर्थिक स्वास्थ्य का मूल सूत्र है—करुणा।

करुणा का यह सिद्धान्त शासकों के प्रति भी इसी तरह लागू होता है। यदि शासक दयालु और कृपालु नहीं हैं तो यह नैतिकता के प्रति हिंसा है। यह एक सामाजिक सच्चाई है कि जो सौभाग्यशाली हैं, समृद्ध हैं, शिक्षित हैं, वे असहायों के प्रति करुणा रखें। कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त भी इसी परोपकारिता के दर्शन पर अवलंबित है। बुद्ध का जब निर्वाण हुआ तो वे निर्वाण के द्वार पर रूक गये और कहा—"जब तक सब प्राणियों का दुःख दूर नहीं होगा, तब तक मैं कैसे भीतर जाऊं," यह है जागतिक करुणा का प्रयोग। जिसका सम्पूर्ण जगत् मित्र है, उसकी करुणा भी जागतिक हो जाती है। बुद्ध के अनुसार विद्या और आचरण के मेल से ही बोधि प्राप्त होती है। मस्तिष्कीय गुणों का विकास विद्या है यह व्यक्ति का बौद्धिक पक्ष है जबकि करुणा आचरण है जो व्यक्ति का भावात्मक पक्ष है, जिसका संबंध व्यक्ति के हृदय से है। जिस व्यक्ति के हृदय में अत्यधिक क्रूरता है, करुणा भावना का प्रयोग उसकी अभिवृत्ति को मोड़ सकता है।

विधायक चिंतन

विधायक चिंतन के बिना व्यक्ति सच्चाई के पास नहीं पहुँच सकता। निषेधात्मक दृष्टिकोण का व्यक्ति हर सच्चाई को नकारता जाता है। जिसका परिणाम होता है—निराशा, अनुत्साह, आवेग, कार्य से निवृत्ति व हिंसा। विधायक चिंतन वाला व्यक्ति सच्चाई के पास पहुँच जाता है जिसका परिणाम होता है—जीवन में सफलता व शांति।

व्यक्ति के चिंतन के दो पक्ष होते हैं– (1) समग्रता की दृष्टि और (2) व्यग्रता की दृष्टि। व्यग्रता का दृष्टिकोण एकाकी आग्रह है। व्यक्ति अपने ही आग्रह पर अड़ा हुआ रहता है। उसे अपने सिवाय हर व्यक्ति के विचार मिथ्या लगते हैं। इसलिए समग्रता के दृष्टिकोण के बिना उस व्यक्ति का हर निर्णय अपूर्ण होगा, आग्रही होगा। जिसका परिणाम होगा हिंसा, संघर्ष। समग्र दृष्टिकोण में विवाद की संभावना नहीं होगी क्योंकि उसके पास अनेकांतिक दृष्टि है जिससे वह दूसरों के विचारों की सच्चाई को भी समझ सकता है।

विधायक चिंतन का दूसरा कोण है अनावेश। आवेश की स्थिति निषेधात्मक चिंतन की स्थिति है जिससे व्यक्ति को कई सामाजिक, आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जबकि अनावेश की स्थिति स्वस्थ और तथ्यों पर आधारित है। इसलिए विधायक चिंतन की आवश्यक शर्त है अनावेश। प्रश्न है—हम क्रोध व अहंकार पर नियंत्रण कैसे करें? जब तक व्यक्ति में संबंध और विसंबंध की चेतना जागृत नहीं होगी तब तक अनावेश की स्थिति घटित नहीं होगी।

विधायक चिंतन का तीसरा कोण है—असंशय। संशयशील चिंतन संभावनाओं को नकारता है, जिससे उसका दृष्टिकोण आग्रही व रूढ़िवादी बन जाता है, वह सच्चाई को नहीं जान पाता। जबकि असंशय की स्थिति का अर्थ है संभावनाओं का स्वीकार। अपने पुरुषार्थ, अपनी क्षमताओं व अपने कृतित्व पर विश्वास। इससे व्यक्ति सच्चाई के रास्ते सदैव खुले रखता है और कहीं भी संघर्ष की संभावना नहीं रहती।

विधायक चिंतन का चौथा कोण है—विरोधाभासों में संगति ढूंढना। एकाकी दृष्टिकोण का व्यक्ति हर विचार में विरोध ही देखता है जिससे कलह या हिंसा की संभावना सदैव रहती है। जबकि विरोधाभासों में संगति का पता लगाना विधायक चिंतन का परिणाम है। परस्पर विरोधी विचार-व्यवहार में सर्वथा विरोध नहीं होता, इस कारण उनमें समन्वय के सूत्रों को खोजा जा सकता है।

विधायक चिंतन के लिए चित्त की एकाग्रता भी आवश्यक है। उच्छृंखल चित्त अनेक समस्याएं पैदा करता है। विधायक चिंतन चित्त की एकाग्रता को

फलित करता है।

विधायक चिंतन आसपास के परिवेश को अपने अनुकूल बना लेता है। वह हर विपरीत परिस्थिति या प्रतिकूल परिस्थिति में कोई न कोई ऐसे सूत्र ढूंढ़ लेता है जिससे विरोधी परिस्थिति या प्रतिकूल परिस्थिति में भी शांति से जीने का बहाना मिल जाता है।

प्रियता-अप्रियता के विचार विकृत विचार हैं जो हीनता व अहंकार के कारण होते हैं जिससे व्यक्ति सत्य को नहीं पकड़ पाता। विधायक चिंतन समतापूर्ण विचारों पर आधारित रहता है जिससे वह सत्य को समग्रता से जान सकता है। समतापूर्ण व्यवहार वाला अभय के वातावरण में चिंतन करता है जिससे उसका चिंतन स्वस्थ रहता है। जबकि प्रियता-अप्रियता से ग्रसित व्यक्ति भय के वातावरण में रहता है और उसका चिंतन भी कुंठित हो जाता है, जो कई समस्याएं पैदा करता है।

इसलिए विधायक चिंतन विकास व शांति का मार्ग है। हृदय परिवर्तन के सूत्रों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अभय, मैत्री, करुणा, क्षमा, मृदुता आदि सभी विधायक भाव हैं जो व्यक्ति के निषेधात्मक भावों को बदलकर उसे अहिंसक बनाने में सक्षम होते हैं।

हृदय परिवर्तन का आधार

समस्त प्राणियों के स्वभाव के अध्ययन से हम सहज ही यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मानवीय स्वभाव विशिष्ट है। मानवीय स्वभाव का अध्ययन— "मनुष्य क्या करता है" प्रायः इसी से किया जाता है पर यदि हम मानवीय स्वभाव का वास्तविक अंकन करना चाहते हैं तो हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि "मनुष्य क्या कर सकता है।" मनुष्य क्या करता है, इसका संबंध मानवीय व्यवहार से है न कि स्वभाव से। प्रायः हम ऐसा देखते हैं कि मनुष्य अपने स्वभाव के विपरीत व्यवहार करता है। इसलिए हमें इस ओर अपना ध्यान आकृष्ट करना होगा कि "वह क्या कर सकता है", इस प्रश्न का सीधा संबंध मनुष्य की योग्यता और शक्ति से है जो अन्ततः उसके स्वभाव से जुड़ता है।

सामान्यतः ऐसी धारणा है कि हम साधारणतः जो करते हैं वह हमारा स्वभाव है तथा जिसे हम स्वयं से अलग नहीं कर सकते। यदि हमारा यह व्यवहार बुरा और अपराधपूर्ण है तो हम क्रूर व हिंसक पशुओं के व्यवहार से कैसे स्वयं को अलग मान सकते हैं। सामान्यतः और सामान्य परिस्थितियों में कोई व्यक्ति क्रूरता, झगड़ा, हत्या आदि नहीं करता क्योंकि उसका स्वभाव ऐसा नहीं है। यदि मनुष्य को स्वभावतः बुरा मान लिया जाय तो शिक्षा और प्रशिक्षण, कालेज और विश्वविद्यालय सभी अर्थहीन हो जायेंगे। सभी धर्म, नैतिकता, अध्यात्म आदि व्यर्थ हो जायेंगे जिनका चरम उत्कर्ष मनुष्यता के उस स्तर की प्राप्ति है जहां पहुंच कर कुछ भी प्राप्त करने को शेष नहीं रह जाता, सारी इच्छाएं, कामनाएं शांत हो जाती हैं। इसलिए किसी भी सामाजिक परिवर्तन के लिए मनुष्य में आस्था और उसकी पवित्रता में विश्वास अपेक्षित है। यदि किसी भी विचार और नैतिक आन्दोलन को पुनरुज्जीवित करना है तो उसका आधार मानवीय नैतिकता में अविश्वास करके हम किसी भी नैतिक विचार क्रांति को सफल नहीं बना सकते। प्रो. ए. शिशकिन ने

कहा है—"मार्क्सवाद यद्यपि पूंजीपतियों, लालच, महत्त्वाकांक्षा, क्रूरता व अन्य सामाजिक बुराइयों को दूर करना चाहता है लेकिन वह मानवीय पवित्रता में विश्वास करता है। भले ही उसका विश्वास ईश्वर में न हो।"

यद्यपि प्रारंभिक अस्त-व्यस्त मनोविज्ञान मनुष्य की लड़ाकू वृत्ति की ओर संकेत करता है पर इसका कोई वैज्ञानिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। डार्विन जिसे विकासवाद का जनक कहा जाता है, बड़ा आश्चर्य है कि वह भी शारीरिक शक्ति से नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति को बड़ा मानता है। ग्रेट आइसलैंड, जोर्डन, मोहनजोदड़ो आदि पूर्व सभ्यताओं की खोजों में किसी भी प्रकार के विध्वंसक अस्त्रों के प्रमाण न मिलना इस तथ्य की ओर अधिक पुष्टि करते हैं कि मनुष्य स्वभावतः बुरा नहीं है। यूनेस्को के प्रो. मोन्टेग (Montague) ने अपनी शोध के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि मनुष्य जन्म से आक्रामक प्रवृत्ति का नहीं रहा है, यह उसकी उपार्जित आदतों का परिणाम है। सेवाइल घोषणा पत्र में विश्व भर के विभिन्न क्षेत्रों के 20 विद्वानों ने यह घोषणा की है कि "यह कहना वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्णतः गलत और भ्रामक है कि युद्ध करने की प्रवृत्ति हमें हमारे पशु-पूर्वजों से मिली है··· कि युद्ध या अन्य हिंसक व्यवहार मनुष्य की वंशानुगत प्रवृत्ति है—— कि मानव विकास की प्रक्रिया में हिंसात्मक व्यवहार को अन्य प्रकार के व्यवहारों की तुलना में प्रधानता दी गई है—— कि मानव मस्तिष्क हिंसक होता है··· कि हिंसा का कारण हमारी उस ओर मूल प्रवृत्ति का होना है या कोई एकल अभिप्रेरणा है।"

अतः जब हमें मानवीय पवित्रता में विश्वास हो जाता है या जब हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि मनुष्य स्वभावतः बुरा नहीं है और जो बुराइयां मनुष्य में हैं वे सब आगन्तुक हैं, अर्जित हैं तब परिवर्तन का एक आधार तैयार हो जाता है। क्योंकि व्यक्ति के जो विभाव, जिनकी आत्माएं रुग्ण हैं, जो आसक्ति के व्यामोह में फंसे हैं उन्हें परिवर्तन के प्रयासों से परिवर्तित किया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति मनुष्य के परिवर्तन और उसके स्वभाव की लोचशीलता में संदेह नहीं कर सकता।

परिवर्तन के कई पहलू हैं पर अहिंसात्मक प्रयोगों के अन्तर्गत "हृदय परिवर्तन" परिवर्तन का सशक्त माध्यम है। क्योंकि यह पद सामान्यतः व्यक्तित्व में सम्पूर्ण, सम्यक् और स्थाई परिवर्तन के लिए प्रयुक्त होता है। जैसे ही किसी व्यक्ति का वास्तविक हृदय परिवर्तन होता है प्रायः संपूर्ण व्यक्तित्व का पुनर्जन्म

हो जाता है। उसके व्यक्तित्व में यह परिवर्तन शारीरिक शक्ति या दबाव से नहीं लाया जा सकता है। विनोबा भावे ने एक पत्र में लिखा है कि "जो यह सोचते हैं कि मानवीय व्यवहार और मस्तिष्क में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता, वे मानवीय मनोविज्ञान से अनभिज्ञ हैं तथा मानवीय स्वभाव को जड़ समझते हैं। एक बार जब व्यक्ति की अनुभूतियां बदल जाती हैं तो वह इन परिवर्तित अनुभूतियों जैसा ही व्यवहार करने के लिए बाध्य हो जाता है।

जी.डब्ल्यू. आलपोर्ट (G.W. Allport) ने अपनी पुस्तक "Personality" में एक ऐसे लड़के के बारे में लिखा है जिसके व्यवहार और अध्ययन की आदतों में अध्यापक द्वारा उसकी बुद्धि पर टिप्पणी किये जाने के बाद अचानक आशा के विपरीत परिवर्तन आया था। प्रो. बेगबी और प्रेट (Prof. Bagbie and J.B. Pratt) ने ऐसे बहुत से पियक्कड़ों के उदाहरण दिये हैं जो वर्षों से पीते थे पर एक ही आघात ने उन्हें पीने की लत छुड़ा दी। इतिहास भी ऐसे हृदय परिवर्तन का साक्षी रहा है—जैसे सम्राट् अशोक, बाल्मीकि, अंगुलीमाल, चंबल के अपराधी आदि-आदि। यह बदलाव कोई जादू नहीं है पर प्रयोग पर आधारित प्रक्रिया है जो सुझाव, भाव, व्यवहार, अनुकरण आदि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। कोई भी विचार सर्वप्रथम सामान्य तरीके से व्यक्ति में आते हैं फिर वे अवचेतन में उतर कर धीरे-धीरे व्यक्ति के भाव और कार्यों में उतर जाते हैं, तथा अन्ततः व्यक्ति की रूचि बन जाते हैं। जिस व्यक्ति से वह घृणा करता था उससे प्यार करने लगता है तथा जिन बुराइयों को उसने अपना रखा था उनसे उसे घृणा हो जाती है। यह आघात जहां एक ओर हृदय को स्पर्श करता है वहीं दूसरी ओर मस्तिष्क को भी मनवाता है।

यद्यपि यह सही है कि मर्मस्पर्शी आघात मात्र से व्यक्ति का रूपान्तरण घटित हो जाता है, किंतु कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि इस प्रकार के रूपान्तरण को स्थायी बनाने के लिए व्यक्ति के परिवेश को भी बदलना आवश्यक है। परिस्थितियों को बदले बिना रूपान्तरण स्थायी नहीं बना रह सकता। एक बार जब विनोबा जी से पूछा गया कि क्या आपके उपदेशों, आपकी प्रेरणाओं से सार्वभौमिक हृदय परिवर्तन आ जाएगा? विनोबा का उत्तर था—केवल मेरे शब्दों से नहीं बल्कि परिस्थितियों में परिवर्तन से हृदय परिवर्तन आएगा।" हम समाज की पृष्ठभूमि को नकार नहीं सकते। समय के बहाव व इतिहास को नकार नहीं सकते। हम शून्य में नहीं सोच सकते। हमारी

सोच में हमारा व्यवहार, हमारी मान्यताएं और सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवहार भी प्रभाव डालते हैं।

जैनदर्शन ने हृदय परिवर्तन की दृष्टि को एक नया आयाम दिया है। जैनदर्शन ने मानवीय पवित्रता में विश्वास के आधार को अपने अस्तित्ववादी चिंतन से और अधिक सूक्ष्मता प्रदान की है। जैनदर्शन का मानना है कि हृदय परिवर्तन के लिए सर्वप्रथम हमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य को स्वीकार करना ही होगा। इससे भी आगे बढ़ते हुए जैनदर्शन कहता है—हम केवल व्यक्ति स्वातंत्र्य को ही महत्त्व न दें बल्कि हमें प्राणी स्वातंत्र्य की सोच तक आगे बढ़ना है। यदि स्वतन्त्रता को केवल मनुष्यों तक ही सीमित रखा गया तो आज विश्व में जो कुछ भी घटित हो रहा है वह होना ही है क्योंकि व्यक्ति स्वातंत्र्य ने इस सोच को विकसित किया है कि मनुष्य भोक्ता है और अन्य सभी उसके लिए भोग्य सामग्री हैं। इसी चिंतन ने आज पर्यावरण की समस्या से विश्व को आक्रांत बनाया है। मनुष्य आये दिन प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करता जा रहा है और परिणाम सामने हैं अकाल, भुखमरी, कहीं अतिवर्षा तो कहीं वर्षा का अभाव, विकलांगता आदि-आदि।

अतः हमें इस चिंतन को आगे बढ़ाना होगा कि अस्तित्व की दृष्टि से सभी प्राणी समान हैं तथा सभी का स्वतंत्र अस्तित्व है। इसलिए मनुष्य के लिए अन्य सभी प्राणी भोग्य नहीं हो सकते। जिस दिन यह चिंतन मनुष्य के स्वभाव में प्रवेश पा लेगा उसी दिन गरीबी, असंतुलित विकास, लिप्सा, पर्यावरण आदि गंभीर समस्याओं से वह उबर जाएगा। और यह चिंतन वस्तुतः हृदय परिवर्तन का सशक्त आधार भी बन सकेगा। आवश्यकता है सापेक्ष चिंतन और सापेक्ष व्यवहार की। अकेला मनुष्य अब और अधिक नहीं भाग सकेगा, परिस्थिति उसके कदमों में बेड़ियां डाल देंगी। समता पर आधारित व्यवस्था व परस्परता ही अब उसे गति प्रदान कर सकती है और यह तब ही संभव है जब हम अस्तित्ववादी चिंतन को आगे बढ़ायें और उसे स्वभावगत करें। तभी पर्यावरण के संकट से जूझ सकेंगे और तब ही हृदय परिवर्तन का मजबूत आधार तैयार हो सकेगा।

आवश्यक है जीवनशैली में परिवर्तन

जीवन जीना एक बात है। कैसा जीवन जीना, यह सर्वथा भिन्न बात है। बहुत लोग ऐसे होते हैं जो जीते हैं पर क्यों जीते हैं? कैसे जीते हैं? आदि प्रश्नों पर कभी विचार ही नहीं करते। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो निश्चित उद्देश्य के साथ जीते हैं और विशिष्ट शैली से जीते हैं। ऐसे व्यक्तियों का युग आने वाली सदियों का मानदण्ड बन जाता है। वे केवल समय को नहीं जीते, उनके जीवन में संस्कृति होती है, सभ्यता होती है और एक परम्परा होती है जो पीढ़ी दर पीढी संक्रान्त होती है और अपने युग की स्थायी पहचान बन जाती है।

वर्तमान युग हिंसा की बहुलता का युग है क्योंकि विश्व में हिंसा के क्रमबद्ध प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था है। अहिंसा के विकास के लिए भी इसी प्रकार के क्रमबद्ध व वैज्ञानिक आधार पर प्रशिक्षण की अपेक्षा है। वर्तमान में अहिंसक-समाज-रचना की दृष्टि से अनेक व्यवहारिक प्रयोग किये जा रहे हैं। इसी क्रम में जीवन शैली में परिवर्तन द्वारा अहिंसा के प्रशिक्षण की पद्धति भी है। अहिंसा पर आधारित जीवन शैली के ग्यारह सूत्र हैं जिनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है—

1. व्यवहारिक अहिंसा या हिंसा निषेध

आधुनिक विचारधारा जीवन के लिए संघर्ष को आधार मानती है तथा दूसरी तरफ विकास के लिए इच्छा के आधिक्य को आवश्यक समझती है। अर्थात् संघर्ष और इच्छा विस्तार आधुनिक जीवन शैली के विशिष्ट अंग हैं। प्राचीन परम्परा भी हिंसा और परिग्रह को जीवन का आधार मानती रही है।

अहिंसक जीवनशैली जीवन का आधार संघर्ष को नहीं अपितु अहिंसा, प्रेम, करुणा और मैत्री को जीवन का आधार मानती है। यद्यपि जीवन के लिए हिंसा अनिवार्य है पर हिंसा की स्वीकृति में अन्तर है। हिंसा जीवन की

अनिवार्यता हो सकती है, पर जीवन का आधार हिंसा नहीं हो सकती। शारीरिक स्तर पर हिंसा अनिवार्य है पर मानसिक स्तर पर हिंसा का समर्थन नहीं किया जा सकता।

हिंसा के चार प्रकार जैनागमों में स्वीकृत किये गये हैं—आरम्भजा, विरोधजा, संकल्पजा और उद्योगी। कृषिकार्य आदि से सम्बन्धित हिंसा को आरम्भजा हिंसा कहते हैं। जीवन यापन की दृष्टि से यह हिंसा अनिवार्य है।

अस्तित्व सुरक्षा के लिए, आक्रमण से सुरक्षा के लिए की गई हिंसा विरोधजा हिंसा है। इसे भी कुछ सीमा तक स्वीकृत किया जा सकता है।

आक्रामक मनोभाव या बिना प्रयोजन की गई हिंसा संकल्पजा हिंसा है, इसे कभी भी स्वीकृत नहीं किया जा सकता।

व्यापार आदि से संबंधित हिंसा उद्योगी हिंसा है।

अहिंसक जीवन शैली अहिंसा महाव्रत का नहीं, बल्कि हिंसा के अल्पीकरण का सूत्र देती है जो सामाजिक शांति, जीवन विकास व अस्तित्व की स्थिरता के लिए आवश्यक है। हिंसा की उन्मुक्तता महाहिंसा की ओर प्रयाण है और इससे संस्कृति को खतरे पैदा होते रहे हैं। संस्कृति के विकास एवं केन्द्रित हिंसा के प्रतिरोध के रूप में ही हिंसा के अल्पीकरण का स्वर मुखर हुआ है। कुछ राजनीतिक पद्धतियां, धार्मिक मंच आदि विचारों के स्तर पर हिंसा की अनिवार्यता को मानते हैं तथा उनके अनुसार अपना विचार या धर्म बलात् किसी पर थोपा जा सकता है। जैन जीवनशैली स्वस्थ समाज रचना के लिए इसे अनावश्यक व अवांछनीय मानता है। इसलिए जैन जीवनशैली मूलतः हिंसा के अल्पीकरण का सिद्धान्त देती है जो साधन शुद्धि के सिद्धान्त का ही विकास है।

2. अनाक्रमण

आक्रमण करना एक मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति का उद्‌भव भय के कारण होता है तथा क्रोध, लोभ, क्षोभ आदि आक्रमण के हेतु बनते हैं। व्यक्ति किसी को क्षति पहुंचाने या सुरक्षा के लिए आक्रान्ता बन जाता है। सुख-सुविधाओं का विस्तार, भविष्य की असुरक्षा, लिप्सा आदि व्यक्ति को आक्रामक बना देते हैं।

व्यक्ति के आक्रान्ता बनने के चार कारण स्थानांग सूत्र में दिये गये हैं—

1. अनर्जित सुखों के अर्जन के लिए।

2. अर्जित सुखों के संरक्षण के लिए।

3. अनर्जित भोगों के अर्जन के लिए।

4. अर्जित भोगों के संरक्षण के लिए।

इनमें जो व्यक्ति सहायक बनते हैं वे आत्मीय बन जाते हैं और दूसरे विरोधी। स्वत्व और परत्व की यह मनोवृत्ति ही व्यक्ति को आक्रान्ता बना देती है।

प्रत्याक्रमण न करना आदर्श है, पर व्यवहार में यह भी ठीक है कि व्यक्ति या राष्ट्र यह संकल्प करे कि मैं किसी पर आक्रमण नहीं करूंगा और न आक्रामक नीति का समर्थन ही करूंगा। ऐसी नीति असमानता व घृणा की जगह समानता, सहयोग व शांति को बढ़ाती है।

3. विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में भाग न लेना

तोड़-फोड़ व आतंकवाद वर्तमान समय की ज्वलंत समस्या है। व्यक्ति अल्पकालीन लाभ के लिए, अपनी बातों को मनवाने के लिए, सरकार पर दबाव डालने के लिए विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में संलग्न हो जाता है, जिससे राष्ट्रीय सम्पत्ति की हानि होती है, संसाधनों का सही उपयोग नहीं हो पाता तथा राष्ट्रीय विकास अवरुद्ध हो जाता है। आज हिंसक आन्दोलनों से कई राष्ट्र समस्या ग्रस्त हैं। ऐसी प्रवृत्तियों में भाग लेना समाज या राष्ट्र के लिए तो घातक है ही, व्यक्ति स्वयं के लिए भी घातक है। पंजाब, कश्मीर, बम्बई आदि के काण्ड इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

अहिंसक जीवनशैली व्यक्ति को यह बताती है कि वह ऐसी हिंसक व विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में भाग न ले।

4. मानवीय एकता में विश्वास

मानवीय एकता में विश्वास का अर्थ है मानवीय अस्तित्व की समानता का विश्वास। अस्तित्व की अपेक्षा से समूचा विश्व एक है और व्यक्ति की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र। अनेकता में एकता का चिन्तन ही मानवीय एकता में विश्वास है। आज विडम्बना है कि मानव को धर्म, वर्ण, जाति, राष्ट्र आदि के आधार पर बांटा जा रहा है। जहां बंटवारा है वहां एकता खण्डित हो जाती है और स्वार्थ प्रमुख हो जाते हैं तब अनेक समस्याएं पैदा होती हैं। न केवल राष्ट्रीय स्तर पर बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी। छुआछूत, रंगभेद,

उच्चवर्ग-निम्न वर्ग आदि समस्याएं इसी के परिणाम हैं।

इसलिए केवल मनुष्य को ही नहीं अपितु सभी प्राणियों को समान समझना आचार शास्त्र का नियम है। सत्य की सापेक्ष दृष्टि से देखा जाए तो—

1. प्रत्येक मनुष्य अस्तित्व की दृष्टि से समान है।
2. प्रत्येक मनुष्य सामर्थ्य की दृष्टि से समान है।
3. जैव विज्ञान के आधार पर मनुष्य समान है।

मनुष्य जाति एक है, इस सिद्धान्त की स्वीकृति के पश्चात् क्या किसी को मारना, सताना स्वयं को तिरस्कृत करने का प्रयत्न नहीं है? जैन आगमों में कहा गया है—

पुरुष ! जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है
जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, वह तू ही है
जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है।

इस आत्मतुला की भूमिका पर विश्व के सब प्राणियों की एकता प्रतिपादित होती है। सब मुझमें हैं, मैं सबमें हूं—इस विराट्ता में ही मानवीय एकता प्रतिबिम्बित हो सकती है।

जाति, वर्ण, वर्ग, धर्म आदि कृत्रिम भेद हैं। इन्हें मुख्य मानकर प्रेम, सद्भाव, विश्वास व न्याय की हत्या मानवीय मूल्यों की हत्या है। भेद की कल्पना प्रकृतिगत नहीं, मानव द्वारा निर्मित है। इन आरोपित भेदों को मानकर किसी को हीन मानना स्वयं की हीनता है। केवल अपने ही दृष्टिकोण को महत्त्व देना, स्वार्थसिद्धि के लिए राष्ट्र की भी परवाह न करना आदि सत्य से मुंह मोड़ना है। अहिंसक जीवनशैली इन भेदों को दूरकर मानवीय एकता में विश्वास की बात करती है। जब एक व्यक्ति परिवार में भिन्न-भिन्न वर्ण, रूचि, स्वभाव वाले लोगों के साथ रह सकता है तो वह अन्य लोगों के साथ क्यों नहीं रह सकता।

5. सर्वधर्म सहिष्णुता

धर्म जीवन का शाश्वत मूल्य है। सत्य साक्षात्कार या आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया का नाम धर्म है। इस दृष्टि से धर्म एक अखण्ड चेतना है, इसे विभक्त करना कठिन है। सहिष्णुता का प्रश्न अनेकत्व के प्रश्न से ही उपस्थित होता है। यदि व्यवहारिक दृष्टि से देखें तो भी धर्म के अनेक भेद क्षमा, दया, प्रेम, करुणा, सत्य, तप आदि को ध्यान में रखकर धर्म के अनेक रूप सामने

आयें तो भी उनमें मतभेद नहीं होगा। मतभेद है सम्प्रदायों में। धर्म ने अपने व्यापक अर्थ को खो दिया है, वह सम्प्रदाय के अर्थ में रूढ़ हो गया है। सम्प्रदाय का अस्तित्व विचार भेद की परिणति का ही परिणाम है। किसी भी देश में अनेक विचार व मत होना कोई समस्या नहीं। समस्या है अपने को सर्वोच्च मानकर दूसरों को छोटा मानना। असद्‌भावों के बीजों का वमन यहीं से होता है।

हर धर्म सत्य की अभिव्यक्ति करता है। यदि सत्य के सापेक्ष दृष्टिकोण को मान लिया जाए तो सभी धर्म सत्य के एक अंश को प्रकट करते हैं। केवल उसी विशिष्ट दृष्टिकोण को ही सत्य मानकर दूसरे धर्मों के दृष्टिकोण को ठुकराया जाना धार्मिक संघर्षों का प्रमुख हेतु बनता है। अहिंसक जीवनशैली यह बतलाती है कि सापेक्ष दृष्टि से सभी धर्म सत्य हैं, इसलिए हमें सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु बनना चाहिए। हर धर्म की अपनी विशिष्टता है—जैनों की अहिंसा, बौद्धों की करुणा, ईसाइयों की सेवा, वेदों का आचार अपने आप में विशिष्ट है। इसलिए हमें सभी धर्मों के अच्छे तत्त्वों के प्रति उदार रहना ही चाहिए। सभी धर्मों के लक्ष्य श्रेयात्मक हैं, बाह्य स्वरूप में भिन्नता हो सकती है। इसलिए हर धर्म के प्रति आदर व सहिष्णु बनना हमारा कर्तव्य है।

6. व्यवहार व व्यापार में प्रामाणिकता

सत्य के दो रूप हैं—आध्यात्मिक और सामाजिक। आध्यात्मिक सत्य व्यक्तिगत होता है। कोई भी आत्मनिष्ठ व्यक्ति असत् आचरण नहीं करता। असत् आचरण का अभाव ही प्रामाणिकता है। जबकि सामाजिक सत्य कहता है—एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ व्यवहार यथार्थ की स्वीकृति के आधार पर हो, यही व्यवहारिक प्रामाणिकता है। इसके तीन मापदण्ड हैं—

व्यवहारिक प्रामाणिकता में प्रवंचना (कपट) नहीं होती।

व्यवहारिक प्रामाणिकता में व्यवस्था का अतिक्रमण नहीं होता।

व्यवहारिक प्रामाणिकता में अतिरिक्त लाभ पाने की इच्छा नहीं होती।

व्यक्ति उपर्युक्त तीनों मापदण्डों का पालन करता है तो इससे वह स्वयं तो लाभान्वित होता ही है, कुछ लाभ समाज व राष्ट्र को भी मिलता है। वर्तमान में प्रायः यह देखा जाता है कि व्यक्ति लोभ के कारण, क्षणिक लाभ के लिए अप्रामाणिक बन जाता है। इसी का परिणाम है कि व्यक्ति मिलावट, झूठा, तौल-माप, चोर बाजारी, रिश्वत, राज्य निषिद्ध व्यापार जैसे कार्यों में लिप्त

होता जा रहा है। जब तक व्यक्ति असीम इच्छाओं का अल्पीकरण न करे, लोभवृत्ति का शमन न करे, तब तक यह सम्भव नहीं कि व्यक्ति व्यापार और व्यवहार में प्रामाणिक बन सके। अप्रामाणिक व्यक्ति स्वयं अपना ही अहित नहीं करता, वरन् वह सामाजिक, राष्ट्रीय मूल्यों की हत्या करता है।

स्वयं की प्रामाणिकता व्यक्ति को तो आत्मतोष देती ही है, बल्कि उसे कई उलझनों से भी बचा लेती है तथा समाज के लिए भी वह शिष्टता व प्रगति का मापदण्ड बनता है। दीर्घकालीन सफलता भी उन्हीं को मिलती है जो प्रामाणिक रहते हैं। अहिंसक जीवनशैली अप्रामाणिकता के आवेग पर नियन्त्रण की बात करती है।

7. आत्म संयम का विकास

भोगवादी संस्कृति का मूल आधार असंयम है। असंयम के कारण ही विश्व में अनेकानेक समस्याएं बढ़ती जा रही हैं। असंयम ने मनुष्य को सुविधावादी बनाया है और सुविधावाद बनाये रखने के लिए वह दिनोंदिन सुविधाएं प्रदान करने वाली सामग्री का उत्पादन व उपभोग कर रहा है जिससे न केवल संसाधनों का असीमित दोहन हो रहा है बल्कि पर्यावरणी प्रदूषण के भी खतरे पैदा होते जा रहे हैं। असंयम की प्रवृत्ति ने ही मनुष्य को शस्त्रास्त्र के उत्पादन व परीक्षण को प्रोत्साहन दिया है। मनुष्य की अनन्त इच्छाओं को कहीं तो विराम देना ही होगा, नहीं तो यह विश्व एक दिन अपने ही विकास के नीचे दबकर खत्म हो जाएगा। यदि संयम व आत्मानुशासन के द्वारा व्यक्ति की विवेक चेतना को जागृत नहीं किया गया तो व्यक्ति की इन्द्रियों की मांग बढ़ती ही चली जाएगी और फिर हर मांग को सन्तुष्ट कर पाना असम्भव होगा। परिणाम होगा—संघर्ष, हिंसा।

गांधी जी भी आत्मसंयम पर बल देते थे। खादी व स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग आत्म संयम की ही दिशा में एक प्रयास था। ब्रह्मचर्य की साधना भी संयम का ही एक प्रयास है जिससे जनसंख्या नियन्त्रण सम्भव हो सकता है।

यह आवश्यक है कि वृत्तियों का संयम व विवेकपूर्वक शोधन किया जाए। वृत्तियों के दमन से इच्छाएं व वासनाएं समाप्त नहीं होती, वे अवचेतन में रहती हैं और अवसर पाकर फिर उभर सकती हैं। दमन में न वृत्तियों का शोधन है और न विवेक चेतना का जागरण। जबकि संयम वृत्तियों को दबाने की

प्रक्रिया नहीं अपितु वृत्तियों के शोधन की प्रक्रिया है। इसलिए गीता में भी आत्मसंयम पर बहुत अधिक बल दिया गया है। फ्रायड वृत्तियों के दमन की बात कहता है। वृत्तियों को बदलने के लिए उनका उदात्तीकरण आवश्यक है, जो संयम द्वारा ही सम्भव है।

8. चुनावों में शुद्धता

लिंकन के शब्दों में लोकतंत्र का अर्थ है—जनता के लिए, जनता के द्वारा, जनता का शासन। लोकतंत्र में मतदान का विशेष महत्त्व है। मतदान के व्यापक अधिकार से कुछ कठिनाइयां भी पैदा होती हैं और उन देशों में यह कठिनाइयां अधिक हैं जहां की जनता शिक्षित नहीं है, जहां गरीबी अधिक है तथा जहां लोगों के विचार विकसित नहीं हैं। शिक्षित देशों में मतदान में कोई गड़बड़ी नहीं होती यह तो नहीं कहा जा सकता, पर वहां अज्ञान-जन्य कठिनाइयों से बचाव हो जाता है।

मतदान की पद्धति के साथ ही प्रलोभन की कड़ी जुड़ी हुई है। मतदान की स्वस्थ परम्परा में सबसे बड़ी बाधा प्रलोभन की ही है और इसी का यह परिणाम है कि चुनावों में अनैतिक साधनों का उपयोग बढ़ रहा है, लोगों को उनके मतों के अधिकार से जबरन वंचित रखकर लोकतंत्र की हत्या की जा रही है। चुनावों में बढ़ती हिंसा, मतदान केन्द्रों पर कब्जा आज चुनावों में आम घटनाएं बन गई हैं। चुनाव में येन-केन-प्रकारेण सफलता प्राप्त करना ही उम्मीदवारों का लक्ष्य बन जाता है भले ही इसके लिए राष्ट्र को कितनी ही बड़ी कीमत क्यों न चुकानी पड़े।

अहिंसक जीवनशैली का मानना है कि मतदान की स्वस्थ परम्परा में विजय-पराजय की बात गौण है। मुख्य बात है व्यक्ति की योग्यता और विशेषता का अंकन कर उसे निर्वाचित करना। मतदाता और प्रार्थी की कुछ दुर्बलताएं इस मार्ग की बाधाएं हैं। प्रार्थी (उम्मीदवार) को अपनी प्रतिष्ठा एवं अहं का मोह रहता है, इसी कारण प्रलोभन, भय और आतंक की परिस्थितियां पैदा हो जाती हैं तथा उनके आगे मतदाता घुटने टेक देते हैं, अतः हमें यह मानकर चलना चाहिए कि बुराई दोनों पक्षों की ओर से होती है। चुनाव परम्परा में विकृति नहीं हो तो योग्य व्यक्ति अनायास ही सामने आ जाएगा। जनतंत्रीय पद्धति स्वीकार करने के बाद प्रलोभन व अनैतिक तरीकों से चुनाव जीतना अनुचित है। जो ऐसा करते हैं वे वस्तुतः अपने विचारों व लोकतंत्र की हत्या

करते हैं। वैचारिक मृत्यु व्यक्ति की सबसे बड़ी पराजय है। इसलिए लोकतंत्र की स्वस्थ प्रणाली में विजयी बनने के लिए प्रलोभन, भय या आतंक की स्थिति पैदा करने का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। इस हेतु निम्न बिन्दु विचारणीय हैं—

● कोई भी मतदाता प्रलोभन, जाति, धर्म आदि के आधार पर मतदान न करे। उम्मीदवार के गुणों के आधार पर मतदान करे।

● उम्मीदवार के विरुद्ध गलत प्रचार, अशांति व उपद्रव न करे तथा अवैध मतदान न करे।

● कोई भी उम्मीदवार भय, प्रलोभन, जाति, धर्म आदि के आधार पर मत लेने का प्रयत्न न करे।

● प्रतिपक्षी के विरुद्ध अश्लील प्रचार, अशांति व उपद्रव न करे।

● दलगत राजनीति की जगह लोकतंत्र को प्राथमिकता मिले।

● लोकतंत्र के प्रति व्यापक शिक्षा दी जाये।

● चुनावों के दौरान साधनशुद्धि पर बल दिया जाये।

● चुनावों में शुद्धता के लिए राजनीतिज्ञों, मतदाताओं व पत्रकारों का क्रमबद्ध प्रशिक्षण हो।

9. सामाजिक कुरुढ़ियों को प्रश्रय न देना

जिस विचार, व्यवस्था की जब तक उपयोगिता है, तब तक उसका मूल्य और महत्त्व है। उपयोगिता समाप्त होने के साथ उसका मूल्य भी समाप्त हो जाता है, वह मूल्यहीन बन जाती है। मूल्य समाप्त होने के बाद भी उस परम्परा या व्यवस्था को चलाए रखने का प्रयत्न कुरूढ़ि है। परिवर्तन सृष्टि का शाश्वत तत्त्व है। हर परिवर्तन के मुख्य हेतु हैं—देशकाल का परिवर्तन, विचार परिवर्तन। विचार परिवर्तन के साथ विकास होता है। हर नया विकास अपने से पूर्व की स्थिति का मूल्य समाप्त कर देता है। कठिनाईयां तब उत्पन्न होती हैं जब हम इन परिवर्तनों को स्वीकार नहीं करते तथा परम्पराओं का निर्वहन ही अपना ध्येय मानते हैं, भले ही वे मूल्यहीन हो गई हों। ऐसी ही परम्पराओं को कुरूढ़ियां कहा जाता है।

समाज में आज भी कई कुरूढ़ियां विद्यमान हैं—जैसे दहेजप्रथा, पर्दाप्रथा, मृत्युभोज, बालविवाह, विधवाओं के साथ दुर्व्यवहार आदि-आदि। जो परम्पराएं किसी काल में किन्हीं कारणों से स्थापित की गई थीं, वे आज जड़ होकर

रह गई हैं, उनके निर्वहन का आज क्या औचित्य हो सकता है?

दहेजप्रथा के कारण न जाने कितनी अबलाओं की बलि भारतवर्ष में दी जाती है। धन के लोभी इन अबलाओं को पाशवीय यातनाएं देने से नहीं चूकते। इसी तरह का व्यवहार विधवाओं और विशेषकर बाल विधवाओं के साथ देखा जाता है। पर्दाप्रथा स्त्री शक्ति को न उभरने देना है जबकि बाल-विवाह उस बच्चे के प्रति अपराध है जो अभी नासमझ है। व्यक्ति ऋण लेकर भी मृत्युभोज करने के लिए विवश होता है।

अहिंसक जीवनशैली का मंतव्य है—इन कुरूढ़ियों को अपने जीवन में प्रश्रय नहीं देना। इनसे व्यक्ति का अहित तो है ही, समाज का विकास भी अवरुद्ध हो जाता है। कुरूढ़ियों के विरुद्ध जनमत जाग्रत किया जाना अपेक्षित है, इस हेतु शिक्षा का प्रसार भी आवश्यक है।

10. मादक पदार्थों के सेवन का निषेध या व्यसन मुक्त जीवन

मादक पदार्थों के सेवन की समस्या आज अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चिन्ता का विषय बन चुकी है। आधुनिक समाज में युवापीढ़ी जीवन की समस्याओं से घबराकर मादक पदार्थों की शरण में जा रही है, जो कि अत्यन्त चिन्तनीय है। अफीम, चरस, हेरोइन आदि अनेक ऐसे मादक पदार्थ हैं जो तस्करी के कारण सामान्य लोगों की पहुंच से परे नहीं रहे हैं और एक बार इनके सेवन के पश्चात् मनुष्य इनका गुलाम बनकर रह जाता है, फिर उसे इन पदार्थों की आपूर्ति करने वाले व्यक्ति की जायज-नाजायज हर बात माननी पड़ती है और व्यक्ति अपराधों की तरफ उन्मुख हो जाता है। इन मादक पदार्थों की भयावहता का अन्दाज इस तथ्य से हो सकता है कि जब व्यक्ति इनके बहुत अधिक आदी बन जाते हैं तो ये मादक पदार्थ भी इन व्यक्तियों पर असर नहीं करते और ऐसे व्यक्तियों को जहरीले सांपों द्वारा नशे के लिए कटवाया जाता है।

नशे का सेवन व्यक्ति भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भी करता है, जैसे ठण्डे देशों में मदिरापान आम बात है। कुछ विलासी मनोवृत्ति वाले लोग सोसाइटी के नाम पर मादक पदार्थों का सेवन प्रारम्भ कर देते हैं। गलत सम्पर्क के कारण भी मादक पदार्थों की आदत बन जाती है और कभी-कभी व्यक्ति अज्ञान के कारण भी इनका शिकार बन जाता है। मादक पदार्थों के कुपरिणामों के कारण आज प्रतिवर्ष लाखों व्यक्ति विश्व में मर रहे हैं तथा

मादक पदार्थों की तस्करी व व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की प्रमुख समस्या बन गया है। सरकारें भी आर्थिक लाभ के लिए इनकी रोकथाम के लिए कारगर उपाय नहीं कर पाती।

अहिंसक जीवनशैली का मानना है कि सरकार आर्थिक लाभ के लिए मादक पदार्थों के सेवन को प्रोत्साहन देती है जबकि सरकार का ध्यान आर्थिक लाभ की जगह देश की चारित्रिक गिरावट की ओर जाना चाहिए। यद्यपि मादक पदार्थों का सेवन व्यक्तिगत घटना है पर इससे पूरा समाज प्रभावित होता है। समाज में नैतिक मूल्यों के पतन के पीछे तथा बलात्कार आदि घटनाओं का एक प्रमुख कारण मादक पदार्थों का सेवन है क्योंकि इनके सेवन से, व्यक्ति की विवेक शक्ति खत्म हो जाने से वह पशुवत् हो जाता है। इसके दुष्परिणामों से बचने के लिए निम्न बिन्दु विचारणीय हैं—

(अ) लोगों को इनके दुष्परिणामों की जानकारी दी जाए।

(ब) मादक पदार्थों के विरोध में प्रबल जनमत जुटाया जाए।

(स) शिक्षा का व्यापक प्रसार हो विशेषकर स्वास्थ्य शिक्षा का।

(द) परिवार का मुखिया या परिवार का सदस्य एक दूसरे को इन पदार्थों के सेवन से बचने के लिए बाध्य करे।

(य) कानून भी इनकी रोकथाम का एक सशक्त साधन बन सकता है। गांधी जी ने तो यहां तक कहा है कि मादक पदार्थों की बिक्री से यदि शिक्षा का प्रसार भी होता हो तो उससे अशिक्षा ज्यादा अच्छी है। इसलिए सरकारी प्रतिबन्ध तो आवश्यक ही है।

(र) हृदय परिवर्तन के लिए प्रयोग किया जाए।

11. पर्यावरणीय चेतना का विकास

सृष्टि का जीवन सापेक्ष है। इसमें जड़ और चेतन जितने पदार्थ हैं, वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा एक दूसरे से प्रभावित होते भी हैं। धरती, हवा, पानी और वनस्पति सृष्टि-संतुलन के आधारभूत तत्त्व हैं, ये जैसे हैं, वैसे ही बने रहें तो सृष्टि का सन्तुलन बना रहता है। इनमें गड़बड़ी से यह सन्तुलन बिगड़ने का खतरा बना रहता है। खनिजों का अत्यधिक दोहन, कारखानों और चिमनियों से उठने वाला धुंआ, प्राकृतिक व्यवस्था के साथ छेड़-छाड़, परमाणु-परीक्षण आदि पर्यावरण को प्रदूषित करते हैं तथा इस कारण विश्व के सामने ओजोन परत को क्षति, भूमि के उपजाऊपन में कमी,

नाभिकीय शीत, तापमान में वृद्धि, पशु-पक्षियों की कई प्रजातियों का लुप्त होना आदि समस्याएं पैदा हो रही हैं।

मानव सभ्यता की कहानी प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन की कहानी है। जब से मनुष्य ने सुमेरिया, मिश्र और सिन्धुघाटी की सभ्यता को जन्म दिया, तब से वह प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध किसी न किसी संघर्ष में जुटा हुआ है। औद्योगिक क्रांति ने प्रकृति पर मानव जाति की विजय को भी साबित कर दिया है। पर्यावरण की जटिलताओं को समझे बिना उसने स्वार्थपूर्ति हेतु प्रकृति की व्यवस्था में व्यापक दखलन्दाजी शुरू कर दी और इसी का परिणाम आज हमारे सामने है।

अहिंसक जीवनशैली का मानना है कि सृष्टि में सन्तुलन बिगड़ने का मूल कारण असंयम है। मनुष्य अपनी आकांक्षाओं का विस्तार करता गया और आकांक्षा पूर्ति के लिए पृथ्वी का बेहिसाब उत्खनन, जल का अधिक प्रयोग, औद्योगीकरण, वन कटाई, शिकार आदि करता गया और स्वयं अपने ही पैर मे कुल्हाडी मारने लगा। इसलिए पर्यावरणीय सन्तुलन के लिए संयम की साधना अपेक्षित है। संयम से ही पर्यावरण की सुरक्षा हो सकती है और पर्यावरण की सुरक्षा मे ही मानव जाति व अन्य प्राणियो की सुरक्षा निहित है। पर्यावरणीय चेतना के विकास के लिए प्रायोगिक प्रशिक्षण भी आवश्यक है।

इस प्रकार अहिंसक जीवनशैली मानवीय उच्छृंखलताओं पर नियन्त्रण स्थापित कर सकती है। यह नियंत्रण थोपा हुआ नहीं, अपितु स्वतः स्वीकृत है तथा प्रयोग द्वारा व्यक्ति का हृदय परिवर्तन व विचार परिवर्तन सम्भव है। जिससे व्यक्ति की जीवन शैली में व्यापक परिवर्तन हो सकता है तथा मनुष्यता के सामने जो व्यापक खतरे हैं, उनसे निपटा जा सकता है।

शांति सेना बदलता स्वरूप

विकास के साथ संघर्ष जुड़ा हुआ है। जटिलता तब होती है जब ये संघर्ष हिंसक हो जाते हैं अथवा शीतयुद्ध का रूप ले लेते हैं ऐसी परिस्थितियों में संघर्ष शमन आवश्यक हो जाता है। संघर्ष शमन के लिए हिंसक साधनों की अपेक्षा का बहिष्कार पूरी दुनिया करने को तत्पर है क्योंकि उसे अपना अस्तित्व कायम रखना है। संघर्ष शमन के अहिंसक प्रतिकार के लिए वार्ता, सौदेबाजी, पंच-निर्णय, संधिया, आत्म-शक्ति का प्रयोग प्रमुख साधन है। अहिंसक प्रतिकार के लिए कुछ अभिकरण भी कार्य करते रहे हैं। इनमें से प्रमुख हैं—गाँधी जी की शांति सेना, अमेरिका की पीस कोरप्स, संयुक्त राष्ट्र संघ के शांति पर्यवेक्षक आदि।

इतिहास में सर्वप्रथम गाँधी जी ने शांति सेना के लिए अहिंसक सेना शब्द का प्रयोग सन् 1922 में किया था। गाँधीजी के जीवनकाल में यह शांति सेना कोई विशेष कार्य नहीं कर पाई थी पर गाँधीजी कहा करते थे— "अहिंसामय हो जाने वाले व्यक्ति जिस बात की इच्छा करेंगे, वह होकर रहेगी।" गांधीजी ने शांति सेना के निर्माण काल में इसके तीन उद्देश्य निर्धारित किये थे—(1) सभी स्थानों पर तनावों को रोकना, (2) हिंसा हो जाए तो अहिंसक शक्ति से हिंसा का शमन और (3) अहिंसक विधायक शक्ति का निर्माण जिससे सहकारिता का विकास हो तथा संघर्ष विहीन समाज का विकास हो सके। यद्यपि दीर्घकाल में शांति सेना को पुलिस व सेना का स्थानापन्न बनना था जिसके सैनिकों के पास मात्र प्रेम और अहिंसा के शस्त्र ही होते। सन् 1957 में विनोबा भावे ने गाँधीजी के मरणोपरान्त उनके शांति सेना के निर्माण के प्रयासों को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। विनोबा भावे ने शांति सेना के लिए जिन कार्यों का निर्धारण किया था, वे हैं— (1) भारतीय शहरी व ग्रामीण दंगों को रोकना, (2) मध्यस्थ के रूप में कार्य करना, (3) शांति की आवश्यकता

को महसूस करवाना, (4) शांति भंग करने वाली अफवाहों का पता लगाना, (5) दंगाइयों के बीच घुसकर अहिंसक प्रतिकार करना और (6) समाज के पुनर्निर्माण के लिए कार्य करना। इन कार्यों को लेकर चले विनोबा जी के प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् 1960 तक शांति सेना के कई हजार सक्रिय कार्यकर्ता बन गये थे। 1961 में इस शांति सेना का अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप 'वर्ड पीस ब्रिगेड' के नाम से सामने आया। सन् 1981 में वर्ड पीस ब्रिगेड का पुनरुद्वार कर पीस ब्रिगेड इन्टरनेशनल का निर्माण हुआ। इन शांति सेनाओं द्वारा कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य भी किये गये जिनमें से प्रमुख हैं—1938 में हिंदू-मुस्लिम दंगों को रोकना, 1963-64 में दिल्ली पीकिंग शांति मार्च, 1964 में पूर्वी भारत में मुख्यतः नागालैंड में अशांति को रोकना, 1972 में साइप्रस में, 1983 में निकारगुआ तथा 1985 में गवैतमाला में कार्य किया था।

विनोबा जी ने गाँधी जी को उद्धृत करते हुए लिखा है—"शांति सेना सशस्त्र फौज की तरह सिर्फ अशांत दिनों में ही नहीं बल्कि शांति के दिनों में भी कार्य करेगी। शांति सैनिक सदा ऐसी रचनात्मक प्रवृत्तियों में लगे रहेंगे, जिससे दंगे होने ही असंभव हो जाएं। झगड़े वाली कौमों को मिलाने के लिए मौके ढूंढना, शांति का प्रचार करना, ऐसा प्रचार करना जिससे उनका संपर्क उस क्षेत्र के स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, हर किसी से हो सके। यह उन शांति सैनिकों का कर्त्तव्य होगा। ऐसी सेना किसी भी संकटकालीन परिस्थिति का मुकाबला करने और उसके लिए जितने लोगों की जरूरत होगी, उतने लोग जान की जोखिम उठाने के लिए तैयार रहेंगे। कुछ सौ या कुछ हजार लोगों का ऐसा निष्कलंक बलिदान दंगों को हमेशा के लिए खत्म कर देगा। ऐसे पागलपन का सामना करने के लिए पुलिस और फौज की नुमाइश और उपयोग के मुकाबले में तथा कुछ सौ युवक-युवतियों की भीड़ के क्रोध के सामने स्वेच्छापूर्ण आत्मसमर्पण करना जरूर कम खर्चीला समझा जाएगा।" ऐसे शांति सैनिकों के लिए क्षमा, सहनशीलता, करुणा, सद्भाव आदि गुण आवश्यक माने गये थे। निश्चित ही शांति सेना का यह स्वरूप आदर्श स्वरूप था तथा इसकी कार्य पद्धति भी वर्तमान शांति सेनाओं की तुलना में कई गुणा अहिंसक थी।

शांति सेना की इसी तर्ज पर बनी अमेरिका की पीस कोरप्स है जिसकी

स्थापना 1961 में राष्ट्रपति कैनेडी द्वारा की गई थी। अमेरिकी कांग्रेस द्वारा परिभाषित पीस कोरप्स के ये उद्देश्य निर्धारित किये गये थे—(1) विश्व शांति और मैत्री स्थापित करना, (2) इच्छुक राष्ट्रों व क्षेत्रों को स्वयं-सेवक उपलब्ध करवाना, (3) इच्छुक राष्ट्रों व क्षेत्रों के लोगों की आवश्यकताओं के अनुरूप मानव शक्ति को अहिंसक प्रयोग के लिए प्रशिक्षित करने में सहायता देना, (4) अमेरिका के लोगों के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण का निर्माण करना तथा (5) अमेरिका के लोगों के दृष्टिकोण को विश्व के अन्य लोगों के अनुकूल बनाना। पीस कोरप्स के सतत प्रयासों से दो महत्वपूर्ण लक्ष्यों की प्राप्ति हुई—(1) अमेरिकन नागरिक जो भिन्न उम्र व पृष्ठभूमि के हैं वे विकासशील देशों में स्वेच्छा से सेवाएं देते हैं, (2) तीसरी दुनिया में लोगों व जीवन स्तर को बेहतर बनाने के लिए ज्ञान और चातुर्य के क्षेत्र में सहयोग देते हैं।

इस शांति सेना में स्वयं-सेवकों की भर्ती के लिए कम से कम 18 वर्ष की आयु है। इन स्वयं-सेवकों को कहीं भेजने से पूर्व इन्हें भाषा, संस्कृति, शहरों व गांवों में रहने का प्रशिक्षण, आरामदेह तथा तंग संकरी जगहों में रहने का प्रशिक्षण दिया जाता है। कहने का तात्पर्य है—इन्हें इस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाता है कि वे संबंधित राष्ट्र जहां इन्हें भेजा जाना है की भाषा, सभ्यता, संस्कृति, तथा विपरीत परिस्थितियों में रह सकने की आदत के आदी हो जाएं। ये स्वयं-सेवक मेजबान राष्ट्र की संस्कृति, स्थानीय जीवन, भाषा आदि में स्वयं को एकदम खपा देते हैं तथा शांति और भाईचारे के लिए कार्य करते हैं। मेजबान राष्ट्र में कार्यों के लिए ऐसी पद्धतियों का चयन करते हैं जिससे वहां की संस्कृति और पर्यावरण को कम से कम नुकसान हो। समाज लाभान्वित हो पर मूल्य नष्ट न होने पाये। स्वदेश लौटने पर इन स्वयं-सेवकों की प्राथमिक जानकारियों का उपयोग अमेरिकन नीतियों एवं भविष्य निर्धारण में सहायक बनता है। इसलिए इन स्वयं-सेवकों को उचित रोजगार सुलभ करवाया जाता है।

अमेरिकन पीस कोरप्स का उद्देश्य भी पूर्णतः अहिंसक ही है। 1986 के आंकड़ों के अनुसार इस वर्ष में पीस कोरप्स के 5616 स्वयं-सेवक 61 राष्ट्रों में कार्य कर रहे थे।

वर्तमान शांति सेना का स्वरूप न तो गाँधी जी की शांति सेना जैसा ही है और न ही अमेरिकन पीस कोरम्स जैसा ही। गाँधी जी की शांति सेना का तो कोई राजनीतिक उद्देश्य तक नहीं था। वर्तमान शांति सेना हथियार बंद शांति सेना है। यद्यपि यह शांतिपूर्ण समाधान के लिए ही कार्य करती है पर आत्मरक्षा के लिए हथियारों का प्रयोग कर सकती है। इस प्रकार के शांति सैनिकों को शांति-पर्यवेक्षक भी कहा जा सकता है। ये पर्यवेक्षक संघर्षरत दो राष्ट्रों के बीच जाकर दोनों राष्ट्रों को संघर्ष से अलग करने का प्रयास करते हैं। यह एक अंतर्राष्ट्रीय निकाय है, जो सैनिक स्वरूप का है। इसके तीन महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं जिनके आधार पर यह कार्य करता है— (1) पक्षों की सहमति, (2) सैनिक स्वरूप तथा (3) निष्पक्षता। इसकी कार्य पद्धति का सार 'शांति बनाये रखना" है, "शांति होना" नहीं। शांति बनाये रखने में नियंत्रण द्वारा कार्य किया जाता है जबकि 'शांति होना" में पूर्ण संघर्ष शमन की प्रक्रिया होती है। यह शांति सेना दबाव या नियंत्रण से शांति स्थापित करती है। पूर्ण संघर्ष शमन इसके द्वारा संभव नहीं है। इसलिए इसका उद्देश्य प्रायः हिंसा को रोकना ही रहता है, और सैनिक मामलों से जुड़े हुए व्यक्ति ही इसमें कार्य करते हैं। तथा यह प्रायः संयुक्त राष्ट्र के नियंत्रण में ही संचालित होती है जिसमें विभिन्न राष्ट्रों के सैनिक एक साथ मिलकर कार्य करते हैं। कोई भी राष्ट्र सामान्य परिस्थितियों में शांति सेना को नहीं बुलाता। बाध्यता के समय ही इस शांति सेना को बुलाना पडता है क्योंकि वह सदैव संघर्षरत नहीं रह सकता। मेहमान राष्ट्र इसमें हिस्सा न तो मेजबान राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए लेते हैं, न ही संयुक्त राष्ट्र के दबाव से बल्कि वे राजनैतिक स्तर पर स्वयं को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं अथवा संयुक्त राष्ट्र में अपनी भागीदारी को प्रभावी बनाना चाहते हैं। संयुक्त राष्ट्र का तो यह दायित्व ही है कि वह संघर्षरत राष्ट्रों को संघर्ष करने से रोके, विश्व शांति के लिए प्रयत्न करे। सुरक्षा परिषद के अनुच्छेद 43 व 45 में कहा गया है कि सुरक्षा परिषद किसी भी राष्ट्र की न्यायोचित मांग पर सशस्त्र सेनाएं तथा अन्य सुविधाएं उपलब्ध करवायेंगे।

इसके ऐतिहासिक कार्यों में—कांगों संकट के समय बेल्जियम की सेनाओं

के लौट जाने के बाद भी संयुक्त राष्ट्र शांति सेना रही थी कि कहीं कांगों का गृहयृद्ध विश्वशांति के लिए खतरा न बन जाए। स्वेज नहर विवाद के समय भी यह शांति सेना वहां अवस्थित रही थी ताकि ब्रिटेन, फ्रांस, इजराइल की सेनाओं का पुनः सामना न हो। वर्तमान में युगोस्लाविया में यह शांति सेना कार्यरत है। इस शांति सेना के लिए शांति कायम रखने की संभावित स्थितियां तभी बन सकती हैं जब समस्या किसी महाशक्ति से जुड़ी न हो, तथा विश्व युद्ध का खतरा बन जाए।

अतः स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि शांति सेना जो अपने प्रारम्भिक काल में अहिंसा तथा संघर्ष शमन का पूर्ण व्रत लेकर चली थी आज यह व्रत खंडित हो गया है। शांति सेना नामकरण वही है पर कार्यों में बदलाव आ गया है। अपेक्षा है शांति सेना अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करे।

आर्थिक समस्याओं का समाधान : विसर्जन

आज का युग अर्थप्रधान युग है। अर्थ के बिना न जीवन चलता है, न समाज बनता है और न समाज चलता है। दुनिया में जो कुछ घटित हो रहा है और जो कुछ चल रहा है, वह अर्थ के सहारे चल रहा है। "अर्थस्य पुरुषौ दासः" यह उक्ति पूर्णतया चरितार्थ हो रही है।

हर प्राणी में कुछ मौलिक मनोवृत्तियां होती हैं। मनुष्य की मौलिक मनोवृत्तियों में से एक है— संग्रह की वृत्ति। अर्थात् जो कुछ उसे प्राप्त है, उसका वह संग्रह करना चाहता है। यह संग्रह आवश्यकता पूर्ति के लिए ही होता तो शायद विसर्जन के विचार की अपेक्षा ही नहीं होती मनुष्य में संग्रह की मनोवृत्ति इसलिए बनी क्योंकि उसे आश्वासन नहीं है अर्थात् उसे भविष्य की चिन्ता है। यदि उसे भविष्य का आश्वासन मिल जाए तो संभव है संग्रह का आधार टूट जाए। किन्तु ऐसी कोई सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था नहीं है, जो व्यक्ति को भविष्य का आधार दे सके। वर्ग विभेद, असमानता और विषमता दूर करने के लिए तथा भविष्य की सुरक्षा की दृष्टि से साम्यवाद सामने आया। साम्यवादियों ने कहा— व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर देना चाहिए। अर्थ किसी व्यक्ति का न होकर राष्ट्र का रहे। व्यक्तिगत स्वामित्व की समाप्ति ही हजारों वर्षों से चली आ रही समस्या का एकमात्र समाधान हो सकता है। पर इससे व्यक्ति की मनोवृत्ति को नहीं बदला जा सकता। निजी स्वामित्व की प्रेरणा न होने से उत्पादन घट गया। आज सोवियत रूस की स्थिति किसी से छिपी नहीं है।

धर्म के क्षेत्र से एक दूसरा विचार आया—अपरिग्रह का, असंग्रह का, जिसका संबंध भगवान महावीर से है। उन्होंने यह सूत्र इस आधार पर नहीं दिया कि समाज की व्यवस्था, जो कि विषमतापूर्ण है, वह समाप्त हो जाए। उन्होंने इसका आधार यह बतलाया कि अर्थ का संग्रह करने वाला व्यक्ति अधिक स्वार्थी और क्रूर बन जाता है। और यह सच भी है कि मैत्री, अहिंसा, दया और करुणा का प्रवाह जिस व्यक्ति में होता है, वह बहुत बड़ा संग्रह नहीं कर सकता। दूसरों का दमन और शोषण नहीं कर सकता, अतः अहिंसक व्यक्ति बहुत बड़ा परिग्रही नहीं बन सकता।

अहिंसा और असंग्रह दोनों साथ—साथ चलते हैं। जबकि हिंसा का संबंध संग्रह से है। इसलिए विसर्जन का संबंध जितना संग्रही व्यक्ति से है

उतना अपरिग्रही व्यक्ति से नहीं।

विसर्जन : अर्थ और दृष्टिकोण

1. अर्जन के गलत तरीकों को छोड़ना

विसर्जन का अर्थ केवल छोड़ना नहीं है, संपत्ति का त्याग करना नहीं है बल्कि उससे भी अधिक सूक्ष्म है। किसी व्यक्ति ने यदि अर्जन के गलत तरीकों को छोड़ दिया तो क्या उस व्यक्ति ने विसर्जन नहीं किया है? उस व्यक्ति ने निश्चित ही बहुत बड़ा विसर्जन किया है। भगवान महावीर ने कभी नहीं कहा कि अर्जन मत करो, व्यापार मत करो। क्योंकि यह अव्यवहारिक है। जहां समाज है वहां अर्जन करना ही पड़ेगा। पर भगवान महावीर ने कहा—अर्जन में जो दोष है उनको छोड़ दो। उन्होंने कहा—किसी की आजीविका का विच्छेद मत करो, दूसरों के अधिकारों का हनन मत करो, धोखा मत दो। अर्थात् जितने व्यवसायिक दोष थे, उनका निषेध किया किन्तु व्यापार का निषेध नहीं किया। इसलिए इस अर्जन के साथ विसर्जन का प्रयोग सन्निहित था।

2. संग्रह के साथ विसर्जन

संग्रह के साथ विसर्जन का तात्पर्य है—अपने व्यक्तिगत स्वामित्व को सीमित करना। जिस व्यक्ति ने वर्ष भर में एक लाख अर्जित किया और उसने पचास हजार का त्याग कर दिया, विसर्जन कर दिया अर्थात् अपने स्वामित्व को सीमित कर लिया। या किसी व्यक्ति के पास पहले से बहुत संपत्ति है और वह यह सोचकर अपनी संपत्ति का विसर्जन कर देता है कि मुझे इसका संग्रह नहीं करना चाहिए। यह भी व्यक्तिगत स्वामित्व को सीमित करना है।

3. व्यक्तिगत उपभोग का सीमांकन

व्यक्तिगत उपभोग का सीमांकन करना भी विसर्जन है। कोई व्यक्ति अपनी संपत्ति को छोड़ नहीं रहा है, लेकिन वह उस संपत्ति के उपभोग का सीमांकन कर लेता है कि इतनी संपत्ति से अधिक का उपयोग मैं नहीं करूंगा। उसने दिया कुछ नहीं, पर व्यक्तिगत भोग की सीमा निर्धारित कर दी। यह भी एक प्रकार विसर्जन है क्योंकि धन के प्रति हमारा जो दृष्टिकोण है, वही समस्या है। यही दृष्टिकोण शोषण करता है, अपराध करता है, गलत साधनों से अर्जन करता है। यदि वस्तु के पीछे केवल जीवन यापन का दृष्टिकोण जुड़ जाए तो वह वास्तव में असंग्रह है, अपरिग्रह है। शुद्ध अर्थ में जिस व्यक्ति ने अर्थ से अपने ममत्व को हटा लिया, उसे मात्र वस्तु माना, जीवन यापन का साधन माना, उसके लिए वह मात्र वस्तु ही रह गई, अर्थ नहीं रहा, धन नहीं रहा। वस्तु अचेतन है, पुद्गल है। इसके संग्रह को परिग्रह नहीं कहा जा सकता। वस्तु परिग्रह तब बनती है जब हमारे हृदय में उस

वस्तु के प्रति आसक्ति जन्म ले लेती है। यह आसक्ति परिग्रह है और यही आसक्ति क्रूरता को जन्म देती है।

दान और विसर्जन

दान वास्तव में उस समाज की व्यवस्था का अंग है जो बहुत त्रुटिपूर्ण समाज–रचना को लेकर चलता है। दान में हमेशा देने वाला और लेने वाला दो पक्ष रहते हैं। जिसमें एक पक्ष के अहं का पोषण होता है और दूसरे पक्ष में हीन–भावना का पोषण। जहां समानता के अधिकार, समाज व्यवस्था के अधिकार की बात है, जहां कर्त्तव्य की बात है, वहां दान के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। अपने ही भाईयों को हीन भावना में रखकर उनकी हीनता को पोषण देना, क्या सभ्य समाज में मान्य हो सकता है?

विसर्जन दान नहीं है। विसर्जन है—अपने संग्रह, अपने अर्जन और अपने व्यय की स्वस्थ पद्धतियों का स्वीकरण। अर्जन में दोषपूर्ण पद्धतियों को छोड़ना, संग्रह को छोड़ना, और वर्तमान की परिस्थितियों के सन्दर्भ में स्वयं को अधिक सामाजिक रूप में ढालना—यही है विसर्जन। विसर्जन त्याग है, ममत्व व आसक्ति को छोड़ना है, संग्रह को छोड़ना है और अपनी वृत्तियों को सामयिक बनाना है।

क्या विसर्जन के साथ अर्जन उचित है?

विसर्जन के साथ अर्जन के औचित्य को भगवान महावीर के इस चिन्तन में देख सकते हैं—भगवान महावीर ने असंग्रह पर बहुत बल दिया किन्तु उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि इतने धन से अधिक मत रखो। उन्होंने कहा— तुम्हारे अर्जन के साधन शुद्ध होने चाहिए तथा व्यक्तिगत जीवन में संयम होना चाहिए। अगर ये दो बातें व्यक्ति के जीवन में हैं तो फिर कितना धन आता है, कितना नहीं आता है, इसकी चिन्ता करने की जरूरत नहीं है।

संग्रह शब्द सापेक्ष है। संग्रह का जो मूल दोष है, वह है—उत्पादन के गलत तरीके और व्यक्तिगत जीवन में असंयम, लालसा, विलासिता और उच्छृंखलता। अगर ये दोष मिट जायें तो एक करोड़पति को भी संग्रही नहीं कहा जा सकता। भगवान महावीर ने एक चक्रवर्ती सम्राट और एक कोशीय प्राणी के संग्रह को समान बतलाया है। उन्होंने कहा है— परिग्रह की भावना का दोनों ने विसर्जन नहीं किया है, इसलिए दोनों परिग्रही हैं। इसलिए परिग्रह का मूल है—हमारी ममत्व भावना, न कि वस्तु का संग्रह। इसलिए विसर्जन के साथ अर्जन किया जा सकता है बशर्ते उसके प्रति ममत्व न हो तथा अर्जन के साधन शुद्ध हों।

विसर्जन और वितरण

धन को, संग्रह को छोड़ने की प्रेरणा जागती है और जब धन छोड़ा जाता

है तब उसे विसर्जन कहा जाता है। विसर्जन के बाद वितरण हो भी सकता है और नहीं भी। बुद्ध ने राज्य का विसर्जन किया, पर बाद की व्यवस्था नहीं की। कई संपत्ति छोड़ते हैं और उसकी व्यवस्था भी कर देते हैं। विसर्जन के बाद इसलिए वितरण आवश्यक है कि उस संपत्ति का प्रयोग पवित्र उद्देश्य के लिए हो। जो वितरण की बात नहीं मानते, उनका तर्क यह है कि विसर्जन कर संपत्ति का ममत्व ही जब छोड़ दिया है तो फिर उसके सही और गलत उपयोग की चर्चा कैसी? पर विसर्जन के बाद उचित वितरण आज के समाज की दृष्टि से ज्यादा व्यवहारिक है।

अतः स्पष्टतया यह कहा जा सकता है कि वर्तमान में जो विषमता की समस्या है, उस समस्या के समाधान का आध्यात्मिक सूत्र है—विसर्जन। विसर्जन हमें यह बतलाता है कि सब लोग इस बात को समझें कि अधिक संग्रह करना किसी के हित में नहीं है, किसी के पक्ष में नहीं है। जो आर्थिक समस्याएं आज हिंसा पैदा कर रही हैं, उनका समाधान विसर्जन में खोजा जा सकता है। विसर्जन का पूरा विकसित रूप तो उस दिन सामने आएगा, जिस दिन एक व्यक्ति इतना अर्जन ही नहीं करेगा कि वह देने की स्थिति में हो।

विसर्जन का पहला चरण होगा ममत्व का विसर्जन और दूसरा चरण होगा व्यवस्था सुधार। यदि ममत्व विसर्जन हो जाए तो व्यवस्था सुधार में कोई कठिनाई नहीं होगी। विसर्जन के सूत्र ने वर्तमान व्यवस्था में धर्म व अध्यात्म के द्वारा, असंग्रह के द्वारा क्या किया जा सकता है, इस ओर इंगित किया है। यदि विश्व विसर्जन की बात ठीक तरह से समझ लें तो हिंसक क्रांति के द्वारा जो परिवर्तन हम लाना चाहते हैं, वह सहज मृदुतापूर्ण एवं अहिंसक ढंग से किया जा सकता है। क्योंकि आज संग्रह विश्वव्यापी बन चुका है और इसी संग्रह की वृत्ति ने कुविकास तथा असंतुलित विकास जैसे विचारों तथा व्यवस्थाओं को जन्म दिया है जिनका परिणाम भी आज पूरा विश्व भोग रहा है। एक तरफ समृद्धि है लेकिन अशांति है, दूसरी तरफ भुखमरी, गरीबी, कुपोषण है, अशांति वहां भी है। पर समृद्ध राष्ट्रों ने यह समझ लिया है जब तक इस विषमता को मिटाया नहीं जाएगा, तब तक शांति उन्हें भी नहीं मिल पाएगी।

विसर्जन इस सारे संकट का एक आदर्श समाधान है। एक व्यक्ति, एक राष्ट्र अपनी आवश्यकता से अधिक संपत्ति का विसर्जन करे, भोग का सीमांकन करे तथा इस विसर्जन का वितरण अविकसित राष्ट्रों व गरीब व्यक्तियों में किया जाए तो निश्चित ही कुविकास की जगह संतुलित विकास संभव हो सकता है। शांति स्थापना को बल मिल सकता है।

पर्यावरण
एवं
निशस्त्रीकरण

पर्यावरण : एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण (वैदिक, बौद्ध और जैन दृष्टि)

पर्यावरण—

हम उस पर्यावरण में रहते हैं जो हमारे लिए अनुकूल है। हम एक विशेष पर्यावरण में ही रह सकते हैं। पाषाण युग के लोग अपने पर्यावरण में रहते थे। शारीरिक दृष्टि से कोई विशेष अन्तर न होने पर भी हम उस पर्यावरण मे रहने की नहीं सोच सकते। हम केवल पृथ्वी ग्रह पर रह सकते हैं। पर मगल, गुरू आदि दूसरे ग्रहों में नहीं रह सकते। इन दोनों स्थितियों में अस्तित्व और अन-अस्तित्व की स्थितियां भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि वे दोनों स्थितियां समान नहीं हो सकतीं पर वे पर्यावरण का हिस्सा हैं।

हमारी प्रथम प्राथमिकता हमारा अस्तित्व है। यदि हमारा अस्तित्व ही नहीं है तो सारी चीजें स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं। हमें हमारे अस्तित्व के लिए श्वास लेने के लिए ऑक्सीजनयुक्त हवा चाहिए, पीने के लिए पानी चाहिए और खाने के लिए भोजन चाहिए। इसलिए हमें एक ऐसा पर्यावरण चाहिए जो हमें ऑक्सीजन युक्त हवा, पानी व ऐसा भोजन दे जिसका पाचन हम आसानी से कर सकें। हमारा अस्तित्व खतरे में पड सकता है यदि ये चीजें न हों या प्रदूषित हों। इस बाह्य वातावरण का संरक्षण कई घटकों पर निर्भर करता है। उनमें से एक घटक है—आध्यात्मिक— जो हमें सही ढंग से मार्गदर्शित करता है तथा ऐसी आदतें विकसत करने में सहयोग करता है जिससे पर्यावरण का संरक्षण हो सके।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारे रहने के तरीकों में पर्यावरणीय परिवर्तन हुआ है, हमारी इच्छाएं बढ़ी हैं तथा हमारी आदतें बदली हैं। प्रत्येक क्षण, प्रत्येक दिन हम धीरे-धीरे बदलते रहते हैं, यद्यपि हम उसका अनुभव नहीं करते। यह परितर्वन विकास का एक अंग है जो प्राकृतिक कानून द्वारा संचालित है। समग्र रूप से वह प्रत्येक वस्तु जिसे हम चाहते हैं, पर्यावरण का एक हिस्सा है। यदि हमारी आदतें खराब हैं तो वह पर्यावरण का सामाजिक प्रदूषण है जबकि हमारी अच्छी आदतें पर्यावरण की शुद्धि करती हैं। हमारी आदतों को अधिकांशतः अध्यात्मबाद नियंत्रित करता है भले ही वह भय के

कारण हो या आस्था के कारण या हमारे भले-बुरे के ज्ञान के कारण। समाज विज्ञान का यह पहलू स्वस्थ समाज के निर्माण में सहयोगी है। यदि ऐसे स्वस्थ समाज का निर्माण होता है तो यह स्वस्थ जीवन के लिए ऐसा पर्यावरण देगा जो शारीरिक व सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप होगा।

वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार अध्यात्मवाद समाज विज्ञान का एक अंग है, जिसमें सामाजिक न्याय आदि भी सम्मिलित हैं। हमारी शिक्षा प्रणाली जो सांस्कृतिक पर्यावरण को जन्म देती है, वह भी अध्यात्मिक व धार्मिक संस्थाओं का एक अंग है। आर्थिक स्थितियां जो विभिन्न क्रान्तियों के द्वारा सामाजिक पर्यावरण का निर्माण करती हैं, वे भी अध्यात्मवाद के अंग हैं। इसलिए अध्यात्मवाद के भी अनेक पहलू हैं जो पर्यावरण को बना भी सकते हैं और नष्ट भी कर सकते हैं। अतः पर्यावरण के लिए आध्यात्मिक दृष्टि का अध्ययन महत्वपूर्ण हो जाता है।

1. पर्यावरण-वैदिक आयाम

प्राचीनतम साहित्य में वेदों का स्थान सर्वोपरि है। वेद प्रकृति की पूजा से प्रारम्भ होते हैं। वेदों में अनेक विचार परस्पर विरोधी पाये जाते हैं क्योंकि वेद किसी एक व्यक्ति का लेखन नहीं अपितु अनेक ऋषियों का समन्वित लेखन है। हम वेदों में वर्ग-विहीन समाज रचना का सिद्धान्त पाते हैं। तो साथ ही जाति व्यवस्था को भी। लेकिन सामाजिक क्रम और पर्यावरण का मुख्य सिद्धान्त प्रकृति में एक जैसा है। प्रकृति से ही वेदों का प्रारम्भ है।

आवश्यकतानुसार देवताओं की स्वीकृति–

जब पूजा का सिद्धान्त प्रारम्भ हुआ तब सूर्य एक मात्र देवता था। सामाजिक आवश्यकताएं बदलती हैं तो समाज में भी परिवर्तन होते हैं। इसी आधार पर देवता के रूप में पृथ्वी, वातावरण और अंतरिक्ष के देवता का विचार आया। सूर्य अंतरिक्ष का प्रमुख देवता है जबकि वातावरण का इन्द्र तथा पृथ्वी का अग्नि। यदि हम थोड़ा और ध्यान दें तो हम पायेंगे कि ये देवता हमारी आवश्यकताओं के अनुसार माने गये। हम सूर्य के बिना नहीं रह सकते और प्राचीन समय में तो सौर ऊर्जा ही एक मात्र शक्ति का स्रोत था। इसलिए सूर्य प्रमुख देवता बना। जब सभ्यता का विकास हुआ तो हमें कृषि की जरूरत हुई और कृषि के लिए वर्षा ही एक मात्र स्रोत था, इस हेतु इन्द्र देवता की प्रतिस्थापना हुई। जब हमने पकाना सीखा तो हमें अग्नि की अपेक्षा हुई, इसलिए अग्नि को देवता के रूप में देखा गया। समय बीतने के साथ हमारी आवश्यकताएं भी बढ़ती गईं और हम अपनी आवश्यकता के अनुरूप उनके प्रतिनिधित्व के रूप में देवताओं को भी स्वीकार करते गये। अंतिम रूप में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की स्वीकृति हुई जो क्रमशः सृष्टि या निर्माण कार्य,

प्रशासनिक कार्य एवं संहार कार्यों में प्रतीक हैं। वैदिक साहित्य में वह विकास हमारी प्राकृतिक आवश्यकताओं के अनुरूप वर्णित है।

सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान का व्यवहारिक पक्ष अथर्ववेद में है। यह सत्य है कि मोक्ष अंतिम उद्देश्य है जिसकी प्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ और काम है। इन तीनों के सामाजिक क्रम के अनुरूप संचालन के लिए आत्म संयम और कई अन्य सावधानियां वर्णित की गई हैं। इसके साथ ही अथर्ववेद हमारी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी मार्ग निर्देशित करता है। यह कृषि, सिंचाई, भोजन बनाने, आत्म-संयम, शहरी और ग्रामीण विकास, परिवार व्यवस्था, सामान्य प्रशासन, राजनीति, युद्ध, पशु विज्ञान, आयुर्विज्ञान आदि से संबंधित वैज्ञानिक जानकारी देता है। इसके अतिरिक्त यह हमें मैस्मेरिज्म, सम्मोहन, आत्म-सम्मोहन, मानसिक, स्वास्थ्य आदि से संबंधित भी पूर्ण जानकारी देता है।

यह भी विश्वास किया जाता है कि सभी भौतिक प्राणी और पदार्थ पंचभूतों से बने हैं। इन मूलभूत पंचभूतों का कुल योग कभी भी परिवर्तित नहीं होता है केवल इनके अंशों में परिवर्तन होता रहता है। इसलिए यह कहा गया है कि कोई भी पदार्थ पूर्णतः नष्ट और निर्मित नहीं होता, केवल परिवर्तित होता रहता है। इसलिए विश्व का पदार्थ सत्,रज् या तम अर्थात् संतुलित, गतिज और स्थैतिक इन तीनों में से किसी एक अवस्था में रहता है जो आधुनिक विज्ञान के अनुरूप भी है।

अतः वेदों के अनुसार पर्यावरण की व्यवस्था मूलतः भौतिक व्यवस्था है जिसे प्रकृति पूजा के रूप में आध्यात्मिक रूप दिया गया है। यह व्यवस्था मांग व आवश्यकता के अनुरूप बदलती रहती है। जैसी स्थितियां होती हैं, हम पदार्थों का परिवर्तन तदनुरूप ही कर लेते हैं।

पर्यावरण पर गीता का दृष्टिकोण–

वैदिक साहित्य में गीता का स्थान भी महत्वपूर्ण है, जो निष्काम कर्म, करने की शिक्षा देती है। मनुष्य सोचता है कि वह कार्य कर रहा है, जो कि भ्रान्त धारणा है। वास्तव में तो वह एक माध्यम है और कार्य पुरुष के माध्यम से प्रकृति के द्वारा किया जाता है। सामान्य परिस्थितियों में एक सामान्य व्यक्ति प्रकृति के नियंत्रण के बाहर नहीं जा सकता, ऐसा वह मोक्ष प्राप्त करके ही कर सकता है। अतः किसी चीज की प्राप्ति के लिए उसे अपने आप को प्रकृति के सुपुर्द कर देना चाहिए।

अतः जब मनुष्य प्रकृति का एक अंग है तो प्रकृति को नष्ट करना उसे नष्ट करना है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जो प्रकृति है वह हमारे दृष्टिकोण से पर्यावरण है। इसलिए पर्यावरण को दूषित करना मनुष्य स्वयं को नष्ट

करने के समान है। यहां पर्यावरण का तात्पर्य केवल भौतिक या बाह्य पर्यावरण से ही नहीं है बल्कि सामाजिक पर्यावरण से भी है। पर्यावरण शुद्धि केवल परिस्थिति के संतुलन पर ही निर्भर नहीं है बल्कि सामाजिक गलत कार्यों को भी बन्द करना चाहिए। जब-जब समाज में ऐसे अधर्म या गलत कार्य बढ़ते हैं तब प्राकृतिक विकास के रूप में महा–मानव जन्म लेते हैं ताकि पर्यावरण को शुद्ध कर सकें। यहां तक कि सामाजिक पर्यावरण–तंत्र की शुद्धि के लिए युद्ध भी प्राकृतिक विकास का एक अंग है। इसी तरह से बाह्य पर्यावरण जिसमें पेड़ पौधे, पशु आदि जो प्रकृति का हिस्सा है, उसका भी सरंक्षण होना चाहिए।

अतः गीता ने प्रातिक कानून को स्पष्ट रूप से वर्णित किया है जो वैज्ञानिक भी है।

पर्यावरण-बौद्ध दृष्टि–

बौद्ध दर्शन के त्रिपिटकों–विनय पिटक, तुतपिटक व अभिधम्मपिटक में से अभिधम्मपिटक में जीवन के विभिन्न पहलुओं, पदार्थों और पर्यावरण पर चर्चा उपलब्ध है। अभिधम्मपिटक में धातु कथा खण्ड में पदार्थों का वैज्ञानिक विश्लेषण उपलब्ध है।

बौद्ध दर्शन का ध्येय सामाजिक पर्यावरण का संरक्षण है। इस हेतु वह अहिंसा–करुणा पर बल देता है। यहां अहिंसा का यह अर्थ नहीं है कि हमें एक पेड़ को नहीं काटना चाहिए या एक पशु का वध नहीं करना चाहिए बल्कि हमें ऐसा तभी करना चाहिए जब ऐसा करना निरपेक्ष दृष्टि से आवश्यक हो गया हो। लोभ के लिए शोषण कभी भी स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि लोभ या तृष्णा ही एक मात्र हिंसा का कारण है। इसी तरह वह समाज जो आत्मनिर्भर है समाज के प्रत्येक व्यक्ति को आत्म निर्भर बनाने का प्रयत्न करे। ऐसी स्थिति में पर्यावरण संरक्षण स्वतः ही रहेगा और ऐसा होने पर आधुनिक विकास सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप होता रहेगा।

बौद्ध दर्शन में शरीर, वचन और मन–ये तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं। इन सब में मानसिक प्रवृत्ति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि कर्म का अर्थ ही किया गया है–इच्छाशक्ति। इस दृष्टि से कोई भी ऐसी इच्छा जो स्वयं की हानि करे, दूसरों की हानि करे या दोनों की हानि करे–अकुशल है। सामाजिक पर्यावरण की दृष्टि से यह सूत्र महत्त्वपूर्ण है कि हम केवल दूसरों को ही कष्ट न दें पर स्वयं को भी किसी प्रकार की हानि न पहुंचायें। इस दृष्टि से व्यक्तिगत गलत कार्य जैसे लोभ, संग्रह आदि सामाजिक पर्यावरण के लिए घातक हैं क्योंकि ये अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक ढांचे को तोड़ते हैं।

बौद्ध दर्शन मानवीय दुःखों से छुटकारा पाने का मार्ग बताता है। किसी भी धर्म में यह होना ही चाहिए कि किसी भी प्राणी के दुःख और दुर्भाग्य के क्षणों में हम उसके प्रति करुणा रखें। यदि ऐसी प्रवृत्ति विकसित होती है तो हम दूसरों के प्रति एवं प्रकृति के प्रति क्रूर नहीं बन सकते। दूसरों को कष्ट में पड़ा हुआ नहीं देख सकते। बौद्ध दर्शन की यह स्पष्ट दृष्टि है कि हर प्राणी जो दूसरों से विशिष्ट है वह अपने से निम्न प्राणियों के प्रति सहयोग करे, करुणा रखे। इसमें पशु, पक्षियों, पेड़-पौधों आदि के प्रति भी करुणा की दृष्टि समाविष्ट है। यह करुणा भले ही अशोक की तरह सामाजिक हो या बुद्ध की तरह आध्यात्मिक हो। करुणा के ये दोनों ही रूप समस्त प्राणियों के प्रति करुणा की बात करते हैं। इससे न केवल पर्यावरण संरक्षण होता है बल्कि सभी प्राणियों के प्रति समता का व्यवहार भी फलित होता है।

बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि व्यक्ति में क्रूरता तृष्णा के कारण आती है। वैसे भी सामाजिक आर्थिक हिंसा में तृष्णा ही महत्वपूर्ण कारण बनती है। बौद्ध दृष्टि का कहना है जब तक मनुष्य इस तृष्णा पर काबू नहीं पा लेता तब तक वह न तो पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागरुक हो सकता है और न परम शांति तक ही पहुंच सकता है। तृष्णा उसे सामाजिक व आर्थिक अपराध करने के लिए प्रेरित करती है वहीं वह प्रकृति का अंधाधुंध दोहन कर प्रकृति के पर्यावरण को भी असंतुलित करते हैं। इसलिए बुद्ध सर्वप्रथम तृष्णा को वश में करने की बात करते हैं ताकि सामाजिक व प्राकृतिक पर्यावरण का संरक्षण हो सके।

पर्यावरण-जैन दृष्टि

सम्पूर्ण प्रकृति लयबद्ध तरीके से चल रही है। कुछ लोग इस गतिमयता के पीछे ईश्वर का हाथ मानते हैं पर जैन दर्शन ईश्वर कर्तृत्व में विश्वास नहीं करता। जैन दर्शन के अनुसार संसार में सब कुछ अपने प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही हो रहा है। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो इस प्राकृतिक व्यवस्था को लांघकर अपने असंयम से या वैज्ञानिक प्रगति के नाम पर कुछ ऐसा प्रयत्न कर रहा है जिससे इस सहज संतुलन के बिगड़ने का खतरा पैदा हो रहा है हो सकता है मनुष्य का यह अतिक्रमण किसी भावी प्राकृतिक समीकरण—संरचना की ही एक कड़ी हो, पर क्या ऐसा भी संभव नहीं है कि मनुष्य किसी संभाव्य को असमय में ही घटित होने के लिए आमंत्रित कर रहा हो।

जैन—धर्म जीवन का अस्तित्व केवल मनुष्यों, पशुओं या कीड़े—मकोड़ों में ही नहीं मानता, अपितु पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा तथा वनस्पति इन पंचभूतों

में भी उसका अस्तित्व स्वीकार करता है। वास्तव में जीवन की यह सूक्ष्म दृष्टि जैन दर्शन की अपनी एक विशिष्ट स्वीकृति है। इसलिए सूक्ष्म जीव की हिंसा से बचने के लिए जैन धर्म ने जितना विचार किया है उतना अन्य किसी धर्म ने नहीं किया। प्रो० सी०एन० वकील ने अपनी पुस्तक— "इकोनॉमिक्स ऑफ काउप्रोटेक्शन" में कहा है—हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मिट्टी वनस्पति, पशु और मानव का परस्पर गहरा संबंध है। जिस प्रकार मानव में जीवन है, पशु और वृक्ष आदि सजीव हैं, उसी प्रकार मिट्टी भी सजीव है। कोट्याकोटी अतिसूक्ष्म ऑर्गनिज्म मिट्टी में सदा क्रियारत रहते हैं। स्पष्ट है कि आज विज्ञान भी पृथ्वी आदि भूतों के बारे में जिस दृष्टि से विचार करने लगा है, उससे जैन की अहिंसा मान्यता को एक नया आयाम मिला है। यद्यपि जैन दर्शन जहां प्राणी विनाश की दृष्टि से अहिंसा पर विचार करता है वहां विज्ञान उस पर प्रदूषण की दृष्टि से विचार करता है।

भूमि प्रदूषण और पृथ्वीकायिक हिंसा

अमेरिकन राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के अनुसार वायु, पानी, मिट्टी, पौधे, पेड़ और जानवर सभी मिलकर पर्यावरण और वातावरण की रचना करते हैं। वे सभी घटक पारस्परिक संतुलन बनाये रखने के लिए एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। किसी एक के असन्तुलन से समूचा पर्यावरण प्रभावित होता है। भगवान महावीर ने कहा—विवेकी व्यक्ति हिंसा के परिणाम को जानकर स्वयं पृथ्वी शस्त्र का समारम्भ न करे, दूसरों से उसका समारंभ न करवाये तथा समारंभ करने वालों का अनुमोदन भी न करे। नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वी संबंधी क्रिया में व्याप्त होकर पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करने वाला व्यक्ति केवल उन्हीं की हत्या नहीं करता अपितु नाना प्रकार से अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

उपरोक्त उद्धरणों में भगवान महावीर ने पृथ्वीकाय की हिंसा का निषेध किया है। आज अनेक प्रकार के खनिज पदार्थों के लिए खासकर कोयले के लिए पृथ्वी का जबरदस्त दोहन किया जा रहा है। वैज्ञानिकों ने आशंका व्यक्त की है कि यदि इसी प्रकार पृथ्वी का दोहन होता रहा तो ये भण्डार कुछ ही समय में समाप्त हो जायेंगे। यदि यह दोहन बंद किया जाए तो खनिज तो बचेंगे ही पर प्रदूषण पर भी काबू पाया जा सकेगा। इस प्रकार पृथ्वीकाय की हिंसा केवल पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं है अपितु वातावरण का संतुलन भी गहरे अर्थ में प्रभावित होगा।

जल-प्रदूषण और अपकायिक हिंसा

पानी हमारे जीवन का एक मुख्य स्रोत है। पानी में पैदा होने वाली सूक्ष्म वनस्पति फायटोप्लैक्शन पृथ्वी पर 50 से 70 प्रतिशत तक प्राणवायु का

उत्पादन करती है। जल प्रदूषण से अपूकाय की हिंसा तो होती ही है पर वनस्पति, मछलियाँ यहां तक कि उसका प्रदूषण मनुष्य तक को प्रभावित करता है। भगवान महावीर ने कहा—जल की यह हिंसा मनुष्य के अहित तथा अबोधि का कारण है। जल की हिंसा का तात्पर्य जल–प्रदूषण से है।

वायु-प्रदूषण और अग्निकायिक हिंसा

वायु प्रदूषण आज के युग की एक ज्वलन्त समस्या है। एक अनुमान के अनुसार वायु प्रदूषण की यही गति रही तो अगले सौ वर्षों में पृथ्वी पर कार्बनडाईआक्साइड की मात्रा दुगुनी हो जाएगी। परिणाम होगा—पृथ्वी का तापमान बढ़ जाएगा, ध्रुवों की बर्फ पिघलने से समुद्र का जल स्तर बढ़ जाएगा, और विश्व के कई समुद्रतटीय महानगरों को समुद्र लील जाएगा।

जैन दर्शन के अनुसार वायु प्रदूषण अग्निकाय के जीवों के कारण है क्योंकि वातावरण में करोड़ों टन धुंआ, रेत आदि छोड़े जा रहे हैं। महावीर ने कहा—अग्नि के जीवों को पीड़ित करना स्वयं अपने को ही उत्पीड़ित करना है। निश्चय ही अग्निकाय की इस विनाशलीला को जानने वाला संयमित जीवन जीने लगता है और जो असंयमित हैं वे जानते हुए भी इस विनाशलीला से अनजान हैं।

ध्वनि-प्रदूषण और वायुकायिक हिंसा

भगवान महावीर ने कहा—जो सत्य को जानता है, वही मौन को जानता है और जो मौन को जानता है, वही सत्य को जानता है। अधिकांश व्यक्ति शब्द–शक्ति को जानते नहीं। पर आज यह स्पष्ट हो गया है कि शब्द या ध्वनि मनुष्य के लिए कितनी घातक भी हो सकती है। सचमुच ध्वनि–प्रदूषण आज के युग की एक महत्त्वपूर्ण समस्या बन गयी है। प्रतिवर्ष दस–प्रतिशत की दर से बढ़ने वाली इस ध्वनि पर यदि नियन्त्रण नहीं हुआ तो वैज्ञानिक अनुमान करते हैं कि अगले कुछ दशकों में मानवजाति के बहरे होने का खतरा पैदा हो जाएगा।

वनों की कटाई और वनस्पतिकायिक हिंसा

वनस्पतिकाय की हिंसा अर्थात् वनों की अंधाधुंध कटाई से अनेकविध दुष्परिणाम तो अत्यन्त स्पष्ट हैं। एक ओर तो इससे प्राणवायु का नाश हो रहा है, दूसरी और भूक्षरण को बढ़ावा मिल रहा है तथा भूमि बंजर होती जा रही है। वर्षा के अनुपात में भी अंतर आ रहा है तथा जन–जीवों का विनाश भी तेजी से हो रहा है।

भगवान महावीर ने कहा—वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा केवल वनस्पतिकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं है अपितु नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा है। उन्होंने कहा—वर्तमान जीवन के हिए जो व्यक्ति वनस्पति

की हिंसा करता है या दूसरे से करवाता है या करने का अनुमोदन करता है तो वह हिंसा मनुष्य जाति के अहित के लिए है। वनस्पतिकाय की हिंसा जीवन नहीं, मृत्यु है।

अतः भगवान महावीर सभी जीवों के प्रति संयम अर्थात् करुणा के प्रवर्तक थे। उनके प्रवचन का उद्देश्य था—संसार के सभी तत्त्व अपनी-अपनी स्थिति में रहें। किसी का कोई नुकसान न करे। कोई किसी को बाधा न पहुंचाये। किसी का अस्तित्व बाधित न हो। संसार के सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। जो स्वयं जीने के इच्छुक हैं वे दूसरों को मारने या नष्ट करने की बात कैसे सोच सकते हैं? इसलिए यदि मनुष्य में संयम की प्रवृत्ति विकसित की जाए तो प्रदूषण रोका जा सकता है। संयम ही जीवन है, असंयम मृत्यु है। यह बात यदि व्यक्ति के विचार और आचरण से जुड़ जाए तो पर्यावरण असन्तुलन की समस्या का निराकरण संभव है।

पर्यावरण पर केवल जीवनशास्त्रीय विवेचन ही पर्याप्त नहीं, उसका आध्यात्मिक विवेचन भी आवश्यक है। पर्यावरण पर आध्यात्मिक दृष्टि की स्पष्टता के बिना पर्यावरण संरक्षण संभव नहीं हो सकेगा। प्रायः सभी धर्म दर्शनों ने किसी न किसी रूप में प्रकृति संरक्षण की बात कही है, जिसे पर्यावरणीय चिंतन ही कहा जाएगा। पर्यावरण में प्रकृति संरक्षण आंशिक दृष्टि है, जबकि समस्त सामाजिक, आर्थिक गलत कार्यों व आदतों पर नियंत्रण भी आवश्यक है, इस हेतु आध्यात्मिक दृष्टि अत्यावश्यक है। आध्यात्मिक दृष्टि यह प्रतिपादित करती है कि मनुष्य की अनन्त इच्छाएं अर्थात् असंयम ही पर्यावरण प्रदूषण के लिए जिम्मेदार है, इसलिए असंयम पर अंकुश आवश्यक है।

पृथ्वी की सुरक्षा पर मंडराते खतरे के बादल

प्रकृति से छेड़छाड़, रासायनिक बहिस्राव, परमाणविक व औद्योगिक कचरा, तेजाबी वर्षा और वायुमण्डल में सतत बढ़ रही कार्बनडाईआक्साइड के परिणाम स्वरूप मनुष्य के समक्ष अभूतपूर्व संकट उठ खड़ा हुआ है।

मानव सभ्यता की कहानी प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन की कहानी है। जब से मनुष्य ने सुमेरिया, मिश्र और सिंधु घाटी की महान सभ्यताओं को जन्म दिया तब से वह प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध किसी न किसी संघर्ष में जुटा हुआ है। औद्योगिक क्रांति ने प्रकृति पर मानव की विजय को भी साबित कर दिया। फिर भी उसके विकास के चरण रुके नहीं। उसने पर्यावरण की जटिलताओं को भली प्रकार समझे बिना स्वार्थ–पूर्ति हेतु प्रकृति की व्यवस्था में व्यापक रूप से दखल अन्दाजी शुरू कर दी। खाद्यान्नों की पूर्ति हेतु कृषि–कार्य के लिए जंगल के जंगल काट डाले तथा विशाल सिंचाई योजनाओं की रूपरेखा तैयार की ताकि फसलों को निर्बाध रूप से जल उपलब्ध होता रहे। प्राचीनकाल के लोग इस तथ्य से अवगत थे कि आवश्यकता से अधिक फसल उगाने और चराई करने से मृदा का क्षरण होता है, पर तथाकथित सभ्य लोग इस सच्चाई को जानते हुए भी सावधान नहीं हुए। परिणाम उस मलबे के ढेर के रूप में देख सकते हैं जो हमारी महान सभ्यताएं पीछे छोड़ गई हैं। प्राचीन सुमेरिया (आधुनिक ईराक), महान बेबीलोनियाई साम्राज्य का खलिहान था, इसके परिदृश्य में आज टीले नजर आते हैं, जो विस्मृत शहरों के प्रतीक हैं।

सिंचाई व अन्य कार्यों के लिए भूमिगत जल के अधिक उपयोग का परिणाम खारापन है क्योंकि भूमिगत जल का स्तर उसके अत्याधिक उपयोग के कारण नीचा हो जाता है। मेक्सिको, अमेरिका के बहुत से भाग, भारत, चीन और पश्चिमी–पूर्वी एशिया में ऐसे बहुत से क्षेत्र हैं। इन कटु अनुभवों के बावजूद भी दुनिया भर में भूमिगत जल का अंधाधुंध प्रयोग जारी है।

औद्योगीकरण के पश्चात् प्राकृतिक संसाधनों का दोहन भी चरम सीमा पर पहुंच गया है। यही कारण है कि कोयला और तेल दोनों की समाप्ति के कगार पर हैं। आधुनिक विश्व शक्ति के वैकल्पिक स्रोतों के बारे में तेजी से सोच रहा है। हमारे वर्तमान खनिज तथा ईंधन के भण्डारों को जमा करने में प्रकृति के लाखों वर्ष लगे हैं पर इन्हें समाप्त करने में चन्द शताब्दियां ही लगेंगी। लुटेरे और परभक्षी के रूप में हम अन्य सभी प्राणियों से आगे हैं। आने वाली कई पीढ़ियों के खनिजों का दोहन हमने कर लिया है। हम स्वयं को निर्माता और चिंतक मानते हैं। हमारे द्वारा किया गया निर्माण, हमारी अंधाधुंध नष्ट करने की क्षमता की तुलना में बहुत ही नगण्य है। चतुर मनुष्य अपने ही घर को, अपने ही वंशजों को बर्बाद करने में लगा है। कोई पक्षी भी अपने नीड को यों बरबाद नहीं करता। इथियोपिया इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। सत्तर के दशक में वह अकाल और भुखमरी की गिरफ्त में आ गया। कारणों का अध्ययन करने पर पता चला कि भूख या दरिद्रता के पीछे मूल कारण अकाल नहीं, पर्वतीय क्षेत्रों में जमीन का बेतहाशा उपयोग था, जिसके फलस्वरूप मिट्टी बुरी तरह से कटने लगी थी।

औद्योगीकरण का एक और दुष्परिणाम पूरी मानवता के समक्ष अवांछित कचरे के रूप में है। इस अवांछित कचरे के ढेर बढ़ते जा रहे हैं, इनसे वायु-प्रदूषण बढ़ रहा है तथा वनस्पतियों को नुकसान पहुंच रहा है। ऐसे वातावरण में पौधों के उत्पादों की पोषकता में कमी हुई है, जिससे इन पर निर्भर रहने वाले जानवरों व मनुष्यों के स्वास्थ्य पर भी कुप्रभाव पड़ रहा है। हमारे कल-कारखाने नदियों और झीलों में प्रचुर मात्रा में कचरा डाल रहे हैं। इनमें मिश्रित घुलनशील नाइट्रोजन और फास्फेट के अंश पानी में इस तरह के सूक्ष्म जीव पैदा कर रहे हैं जो अन्य प्राणियों के जीवन के लिए घातक हैं।

सघन उद्योगों वाले देशों में वर्षा के पानी की अम्लीयता खतरनाक स्थिति तक पहुंच गई है। तेजाबी वर्षा की विशेष बात यह है कि एक राष्ट्र की चिमनी धुआं उगलती है और दूसरे राष्ट्र के लोग उसके फलस्वरूप अम्लीय वर्षा को झेलते हैं। नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क आदि यूरोपियन राष्ट्र ब्रिटेन और फ्रांस पर यह आरोप लगा रहे हैं कि उनके कल-कारखानों से निकलने वाले धुएं से पर्यावरण प्रदूषित होता है तथा उनके राष्ट्रों में अम्लीय वर्षा होती है।

ज्वलनशील ईंधन का व्यापक प्रयोग भी सभी प्राणियों के लिए हानिकर है। एक तरफ तो यह ऑक्सीजन की मात्रा को कम करता है, दूसरी तरफ कार्बनडाईऑक्साइड की मात्रा को बढ़ाता है। पर्यावरण पर विश्व–व्यापी संकटों में सबसे महत्त्वपूर्ण संकट कार्बन–डाइऑक्साइड व अन्य गैसों की वृद्धि है। वातावरण में कार्बन डाईऑक्साइड के बढ़ने से पृथ्वी का तापमान् भी बढ़ेगा, जिससे ध्रुवों की बर्फ पिघलकर महासागरों के जल स्तर को बढ़ाएगी। बढ़ा हुआ जल–स्तर सागरों के किनारे बसे शहरों को लील जाएगा। नासा की रिपोर्ट के अनुसार सन् 1979 से 1988 के दशक में ग्रीन हाउस तापवृद्धि नहीं हुई है। इस रिपोर्ट के सह लेखक शोध वैज्ञानिक क्रिस्टी का कहना है–"दीर्घकालीन तापवृद्धि का इस रिपोर्ट से कोई सम्बन्ध नहीं है। पिछले दशक में तापवृद्धि नहीं हुई, इसका यह अर्थ नहीं है कि तापवृद्धि होगी ही नहीं।"

वातावरण में क्लोरोफ्लूरो कार्बन्स (C.F.C.) में स्थित क्लोरीन को छोड़े जाने से ओजोन की समस्या भी सिर उठाये खड़ी है। सी.एफ.सी. में क्लोरीन, फ्लोरीन और कार्बन तत्व होते हैं। वायुमण्डल में छोड़े जाने पर यह वायुमण्डल की ऊपरी सतह तक पहुंच जाती है। सूर्य की पराबैंगनी किरणें सी.एफ.सी. को तोड़ देती हैं और अलग क्लोरीन ओजोन के लिए खतरा बन जाती है।

वर्तमान में प्रदूषण का महान स्रोत परमाणु अस्त्रों के विस्फोट एवं परीक्षणों से उत्पन्न रेडियोधर्मिता है इस रेडियोधर्मिता से पृथ्वी धरातल का प्रत्येक भाग और इसके सभी निवासी प्रभावित होते हैं। श्रीमाइल आइलैण्ड और चेर्नोबिल दुर्घटनाओं ने रेडियोधर्मिता के खतरे को और अधिक सुर्खियों में ला दिया है। ऊर्जा के वैकल्पिक साधन के रूप में परमाणु शक्ति के प्रयोग पर भी इन दुर्घटनाओं ने प्रश्नचिन्ह लगा दिया है।

ये समस्त खतरे हमें पर्यावरण ही रक्षा के लिए सचेत करते हैं। हाल ही के वर्षों में पर्यावरण की रक्षा एवं पारिस्थितिक संरक्षण के प्रति लोगों की चेतना जागृत हुई है। दुनिया भर में होने वाले प्रदर्शन, विरोध रैलियां इसके गवाह हैं। समय रहते यदि हमने स्वयं को संयमित रखना सीख लिया तो निश्चित ही पृथ्वी की रक्षा हो पाएगी अन्यथा विनाशलीला से मानव स्वयं को नहीं बचा पाएगा।

विकास के नाम पर जन्म ले रही संस्कृति

किसी भी राष्ट्र की समस्या समान नहीं होती। समस्या की समानता का प्रश्न तब और भी अप्रासंगिक हो जाता है, जब दुनिया के कुछ राष्ट्र समृद्ध हों और कुछ राष्ट्र गरीब। समृद्ध राष्ट्रों की समस्याएं अलग होंगी और गरीब या अविकसित राष्ट्रों की समस्याएं अलग। यूरोपीय राष्ट्रों में शांति की जैसी समस्या है, वैसी समस्या पिछड़े या अविकसित राष्ट्रों को नहीं है। यूरोपीय राष्ट्र सैनिक शक्ति से सुदृढ़ हैं तथा भौतिक शक्ति से समृद्ध हैं। वहां दरिद्रता या सैन्य शक्ति का अभाव अशांति का कारण नहीं है। अशांति का कारण है—युद्ध का खतरा, कुविकास। पिछड़े, राष्ट्रों के लिए युद्ध की आशंका कम है। गरीबी, पिछड़ापन, कुपोषण, वहां की मूलभूत समस्याएं हैं और ये समस्याएं ही उन राष्ट्रों को अशांत बनाती हैं। गरीबी अशिक्षा का कारण है, अशिक्षा बेरोजगारी का, बेरोजगारी कुपोषण का, कुपोषण बीमारी का—ये सब मिलकर सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक पिछड़ेपन को जन्म देते हैं। यह चहुंमुखी पिछड़ापन तनाव को जन्म देता है जो हिंसा या युद्ध का जनक बन जाता है। इसलिए पिछड़े राष्ट्रों के लिए गरीबी अशांति का मूल है। गरीबी व पिछड़ेपन के निदान से ही सम्पूर्ण व संतुलित विकास हो सकता है और यह तभी संभव होगा जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के प्रति प्रतिस्पर्धा छोड़कर प्रेम, सहयोग, सौहार्द व विश्वास का व्यवहार करे।

जैन दर्शन व गांधी जी के अपरिग्रह के सिद्धान्तानुसार अतिभाव व अभाव दोनों ही अशांति के मूल हैं। समृद्ध राष्ट्र अतिभाव से पीड़ित है तो गरीब राष्ट्र अभाव के कारण। पिछड़े व गरीब राष्ट्रों का विकास हुआ ही नहीं है। समृद्ध राष्ट्रों का विकास तो हुआ है पर यह विकास विश्व व स्वयं उन राष्ट्रों के लिए अभिशाप बन गया है, क्योंकि यह विकास असंतुलित विकास जिसे हम कुविकास कह सकते हैं।

1960-70 के दशक को संयुक्त राष्ट्र द्वारा विकास का दशक घोषित किया गया था। इस दशक में विकास के अनेक कार्य भी हुए फिर भी विश्व

के काफी राष्ट्रों का विकास अब भी नहीं है। जो विकास हुआ है, उससे विकास के नाम पर तीन चीजें प्राप्त हुई हैं—

1. तथाकथित विकास ने विश्व के अन्य राष्ट्रों की तुलना में कुछ राष्ट्रों को और अधिक समृद्ध व शक्तिशाली बनाया है।

2. इस विकास ने राष्ट्रों के बीच कुछ क्षेत्रीयता की भावना और आर्थिक समूहों का निर्माण किया है।

3. इस विकास ने बड़ी मात्रा में गरीबी बढ़ाई है और हिंसा को बढ़ावा दिया है जो नये राष्ट्रों के पर्यावरण को बिगाड़कर उन्हें युद्ध की ओर धकेलते हैं।

अतः विकास कुछ राष्ट्रों के लिए क्रियाशील है और कुछ राष्ट्रों के लिए निष्क्रिय। ऐसा इसलिए है कि कुछ राष्ट्रों ने तो अभी विकास–यात्रा प्रारम्भ ही नहीं की है। उदाहरणतः अमेरिका की जनसंख्या विश्व जनसंख्या का 6% है पर यह विश्व के 70% संसाधनों का उपयोग करता है। दूसरी तरफ तीसरी दुनिया के देश जिनकी जनसंख्या विश्व की जनसंख्या का 70% है विश्व के मात्र 10% संसाधनों का प्रयोग करती है। इस असंतुलित स्थिति में क्या अविकसित राष्ट्र विकसित राष्ट्रों के साथ कदम से कदम मिलाकर चल सकते हैं। एक जिनके विकास की दर 0% है तथा दूसरे जिनके विकास की दर बहुत ऊंची है, क्या वे समान रूप से रह सकते हैं? इन प्रश्नों के उत्तर में प्रायः कहा जाता है कि जो राष्ट्र अत्यधिक विकसित हैं, एक दिन वे स्वयं ही अपनी समृद्धि के नीचे दबकर खत्म हो जायेंगे। क्योंकि संसाधनों का तेजी से हो रहा दोहन संसाधनों को समाप्त कर देगा। पर्यावरण असंतुलित हो जायेगा। विकसित राष्ट्रों की बढ़ती आबादी व बहुमंजिली इमारतें—ये दोनों ही जीवन की मूलभूत प्रकृति को नष्ट कर देंगी। यह विकास करोड़ों वर्षों से चली आ रही उन सामाजिक संस्थाओं को समाप्त कर देगा जो मानव जाति के रख–रखाव व निर्माण के लिए जिम्मेदार है। बिखरते परिवार, ढहते नीड़ मुक्त कामाचार, बच्चों व स्त्रियों के प्रति लापरवाही, अकेलापन, नशे की संस्कृति आदि इसके जीवन्त उदाहरण हैं। ये सब एक ऐसी नवीन संस्कृति का निर्माण कर रहे हैं। जो मानवता के लिए अभिशाप होगी।

दूसरी तरफ ये तथाकथित विकसित व सभ्य राष्ट्र पिछड़े व अविकसित राष्ट्रों की अर्थ व्यवस्था के बिगाड़ने के लिए भी जिम्मेदार हैं। ये पिछड़े राष्ट्रों

को शस्त्र खरीदने के लिए बाध्य करते हैं। यही कारण है कि पिछड़े राष्ट्र रोटी-कपड़ा-मकान नहीं जुटा पाते पर उनके लिए अस्त्र-शस्त्र आवश्यक होते हैं। ऐसे राष्ट्र राष्ट्रीय आय का मात्र 2 या 3% शिक्षा पर खर्च कर पाते हैं जबकि उन्हें सैनिक कार्यों पर 20-25% तक खर्च करना पड़ जाता है। उनके विकास के प्रयत्न अवरुद्ध होते चले जाते हैं। गरीबी उन्मूलन के लिए विकसित राष्ट्रों के ये प्रयत्न हिंसा के प्रतिकारक के रूप में कार्य करते हैं पर उनका दावा यह होता है कि वे पिछड़े राष्ट्रों की मानव शक्ति, रुपये की शक्ति व संसाधनों की शक्ति के द्वारा उनकी संस्कृतियों से जुड़ने के प्रयत्न कर रहे हैं ताकि वे कम से कम समय में अधिक से अधिक विकास को प्राप्त कर सकें।

अतः समृद्ध राष्ट्रों के लिए ऐश्वर्य उनकी कब्रगाह बन रहा है जबकि पिछड़े राष्ट्रों के लिए गरीबी उनकी कब्रगाह बन रहा है। समृद्ध राष्ट्रों का विकास उनके लिए अभिशाप हो रहा है जबकि पिछड़े राष्ट्रों का विकास न कर पाना उनके लिए अभिशाप हो रहा है। एक तरफ अतिभाव है एक तरफ अभाव है। यही कुविकास है, यही असंतुलित विकास है। ऐसा विकास न तो मानव जाति के लिए व्यवहार्य है और न वांछनीय। इस संदर्भ में नार्वे के प्रधानमंत्री तथा इंदिरा गांधी शान्ति एवं निःशस्त्रीकरण'' पुरस्कार से सम्मानित श्रीमती ग्रो हालेस गुइटलैंड का कथन दृष्टव्य है—आज विश्व के समक्ष प्रश्न है असमानता और गरीबी का। विश्व जो पर्यावरण के संकट का सामना कर रहा है उसमें असमानता व गरीबी सबसे बड़ा प्रदूषण है। खपत अपने आप में मुख्य मुद्दा नहीं है। प्रयुक्त स्रोत की उपलब्धता, वहनीयता, प्रदूषण, प्रतिमान और आर्थिक विकास के लिए पर्यावरण को नुकसान पहुंचाने वाली वस्तुओं का प्रयोग और असमानता तथा पक्षपात पूर्ण वितरण ही मुख्य मुद्दे हैं। इस सक्रान्तिकाल में हमारे लिए दो विकल्प हैं—या तो हम इस तथाकथित विकास को स्वीकार कर लें, जो हमें समृद्धि देगा और संस्कृतियों का नाश करेगा या हम सीमित विकास को स्वीकार करें जो हमें गरीबी मुक्त समाज का आधार देगा तथा मानवता को जीवित रखेगा। इन विकल्पों में से किसी एक विकल्प के चयन का निर्णय किसी एक हाथ में नहीं होगा पर हम सब इसके साक्षीदार होंगे तथा इसके परिणाम भी सभी को प्राप्त होंगे।

जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में नि:शस्त्रीकरण और विश्वशांति

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व युद्ध का वह स्वरूप नहीं था जो आज है। राजा अपने राज्य के विस्तार के लिए भाड़े की सेना लेकर लड़ता था। राष्ट्रवाद का उदय अभी नहीं हुआ था। भारतवर्ष में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जो प्रायः दो कारणों से परस्पर लड़ते थे--भूमि और स्त्री। युद्ध के दुष्परिणामों से लोग सामान्यतः परिचित थे, जैसा कि गीता में अर्जुन के वक्तव्य से स्पष्ट होता है। अपने अधिकार के लिए लड़ना क्षत्रिय धर्म समझा जाता था। युद्धों में शस्त्रधारी, शस्त्रधारी पर ही आक्रमण करता था। नि:शस्त्र नागरिक युद्ध की विभीषिका के शिकार नहीं होते थे। पूंजीवाद का उदय अभी नहीं हुआ था। उस समय व्यापारी और श्रेष्ठी थे जो निर्धन लोगों को दास-दासियों की भाति खरीदा-बेचा करते थे।

ऐसे समय में महावीर और बुद्ध दो ऐसे महापुरुष हुए, जिन्होंने व्यक्तिगत स्तर पर अहिंसा और अपरिग्रह की बात रखी। यह मात्र संयोग ही नहीं था कि ये दोनों ही क्षत्रिय राजकुमार थे, जिनका पैतृक व्यवसाय युद्ध करना था। शेष 23 जैन तीर्थकर भी राजघरानों से ही संबद्ध थे। उपनिषदों में भी ब्रह्मविद्या का संबंध क्षत्रियों से माना गया है। इसका अर्थ यह है कि अहिंसा और आत्मविद्या की चर्चा उन घरानों में पनपी जिनका युद्ध करना पैतृक व्यवसाय समझा जाता था। स्वाभाविक भी है--युद्ध की विभीषिका से वे लोग अधिक परिचित थे जो स्वयं युद्ध से सीधे जुड़े थे।

नि:शस्त्रीकरण का अर्थ

अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ डिफेन्स एनालिसेस ने नि:शस्त्रीकरण की परिभाषा देते हुए कहा है--"कोई भी एक योजना, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से नि:शस्त्रीकरण के किसी भी एक पहलू जैसे संख्या, प्रकार, शस्त्रों की प्रयोजन प्रणाली, उसका नियन्त्रण, उसकी सहायता के लिए पूरक यंत्रों का निर्माण, प्रयोग व वितरण, गुप्त सूचनाएं एकत्र करने के संयंत्र, सेना का संख्यात्मक स्वरूप आदि को नियमित करन से संबंध हो, नि:शस्त्रीकरण की

श्रेणी में आते हैं।" जैन दृष्टि इससे भिन्न है।

भगवान महावीर के शस्त्रीकरण और निःशस्त्रीकरण संबंधी विचार प्रथम जैन आगम 'आयारो' में संग्रहीत हैं। वहां शस्त्र के दो प्रकार बतलाये गये हैं—द्रव्य शस्त्र और भाव शस्त्र। पाषाण युग से अणुयुग तक जितने भी अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हुआ है, वे सब द्रव्य शस्त्र हैं। दूसरे शब्दों में निष्क्रिय शस्त्र हैं, उनमें स्वतः प्रेरित संहारक शक्ति नहीं है। सक्रिय शस्त्र जिसे आयारो में भाव शस्त्र कहा गया है—असंयम है। विध्वंस का मूल असंयम ही है। निष्क्रिय शस्त्रों में प्राण फूंकने वाला तथा शस्त्रों के निर्माण की मूलभूत प्रेरणा असंयम ही है।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा की गई यह घोषणा—"युद्ध पहले मनुष्य के मस्तिष्क में लड़ा जाता है, फिर समरांगण में" इसी भावशस्त्र के स्वर का पुनरुच्चारण है। इस भावशस्त्र (असंयम) को भली भांति समझकर छोड़ने का प्रयत्न करना निःशस्त्रीकरण है।

शस्त्रीकरण के हेतु

आयारो में शस्त्रीकरण के चार हेतु बतलाये गये हैं—

1. वर्तमान जीवन के लिए
2. प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए
3. जन्म, मरण और मोचन के लिए
4. दुःख प्रतिकार के लिए।

जीवन की सुरक्षा के लिए मनुष्य—'जीवो जीवस्य जीवनम्'— यह मान कर अपने जीवन के लिए दूसरे जीवों का वध और शोषण करता है। प्रशंसा या कीर्ति के लिए प्रतियोगितात्मक प्रवृत्तियां करता है। पूजा पाने के लिए मनुष्य युद्ध आदि विविध प्रवृत्तियां करता है। भावी जन्म के लिए अनेक हिंसात्मक प्रवृत्तियां, मारण के लिए बैर-प्रतिशोध तथा अन्य प्रवृत्तियां एवं दुःख प्रतिकार के लिए दवा व रसायनों हेतु अनेक पशु-पक्षियों की हिंसा करता है। इन सभी कारणों के लिए वह शस्त्रीकरण करता है।

शस्त्रीकरण के मूल में इन कारणों को देखकर यह कहा जा सकता है शस्त्रीकरण सुख का हेतु नहीं दुःख का मूल है। इसी संदर्भ में वितेषणा और लोकेषणा को छोड़ने पर भी बल दिया गया है। इच्छा (असंयम) दुःख का मूल है।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुख-सुविधा को सर्वोपरि मानता है। जो कुछ उसके पास नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिए वह दूसरे देशों में पैर पसारता है। दूसरों के अधिकारों पर चोट करता है, उन पर विजय चाहता है तथा बार-बार

शस्त्र का प्रयोग करता है। सुकरात ने भी यही कहा था—"लोग सरल जीवन-पद्धति से सन्तुष्ट नहीं होंगे। वे सोफा, मेज तथा अन्य उपस्कर इकट्ठा करते रहेंगे। हमें आवास, वस्त्र तथा जूते जैसी आवश्यकताओं से आगे बढ़ जाना चाहिए‥ ‥उसके बाद हमें अपनी सीमाओं को बढ़ाना चाहिए, क्योंकि मूल स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती ‥और जो प्रदेश अपने मूल निवासियों का भरण-पोषण करने में काफी था वह अब उसके लिए छोटा हो जाएगा,

तब हम अपने पड़ौसियों की जमीन का टुकड़ा हथियाना चाहेंगे। यदि हमारी तरह उनकी भी आवश्यकताएं सीमा को पार कर जाएं तो वे स्वयं धन के असीमित संचय के लिए लग जाएं तो परिणाम होगा— युद्ध।" अतः इच्छाओं का विस्तार शस्त्रीकरण का मूल है जो अज्ञान के कारण है। अज्ञानी को हिंसा व शस्त्रीकरण की विभीषिका समझना कठिन है। ज्ञान ही संयम का आधार है।

शान्ति की अविभाज्यता

भगवान महावीर ने युद्ध के मूल पर प्रहार किया। वे आज के मानवतावादी, शांतिवादी आन्दोलनों के सिद्धांतों की अपेक्षा कहीं अधिक गहरे में गये। आधुनिक संदर्भों में यदि कहें तो उनका ध्यान प्रकृति के असंतुलन और पर्यावरण प्रदूषण तक गया। वे प्रकृति के किसी भी तत्त्व के साथ किसी भी प्रकार की छेड़-छाड़ को हिंसा मानते थे। इसलिए उन्होंने पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को भी सजीव माना। वनस्पति को तो वे जीवन-युक्त मानते ही थे। उनका मानना था जो पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है वह अन्य जीवों की हिंसा का भागी भी बनता है। यह अवधारणा आज के वैज्ञानिक अवधारणा के बहुत निकट है। प्रकृति का संतुलन बिगड़ जाने पर वनस्पति, पशु-पक्षी और मनुष्य का जीवन भी संकट में पड़ जाता है। प्रो० गाल्टुंग के अनुसार शांति समग्र है, अविभाज्य है। उन्होंने अस्तित्व के पांच प्रकार बतलाए हैं—प्रकृति, मानव, समाज, विश्व और संस्कृति। उनके अनुसार इन पांचों अस्तित्वों का साध्य भिन्न-भिन्न होते हुए भी परम साध्य के रूप में ये शांति की अपेक्षा रखते हैं—

प्रकृति का साध्य है—परिस्थिति का संतुलन
मानव का साध्य है—बोधि प्राप्त करना
समाज का साध्य है—विकास
विश्व का साध्य है—शान्ति
संस्कृति का साध्य है—पर्याप्तता।

गहराई से विचार करने पर ये सभी तत्त्व परस्पर अन्तर्ग्रथित दिखाई देते

हैं। इनमें से किसी एक भी तत्त्व की अवहेलना करके शांति स्थापित नहीं की जा सकती। प्रत्येक तत्त्व का अस्तित्व दूसरे तत्त्व के अस्तित्व पर निर्भर है और प्रत्येक तत्त्व की शांति दूसरे तत्त्व की शांति को प्रभावित करती है। प्रो. गाल्टुंग ने ठीक ही लिखा है–"जब हम शांति के बारे में चर्चा या विचार–विमर्श करते हैं तो इसका आशय इतना ही नहीं है कि शांति केवल राष्ट्रों के बीच में ही हो, बल्कि शान्ति तो समाज की रग–रग में, मानव जाति में और यहां तक कि प्रकृति में भी शांति व्याप्त होनी चाहिए।"

हितैक्य का दर्शन

भगवान महावीर ने कहा–यह हमारा अज्ञान है कि मनुष्य अपने और दूसरे के हितों में टकराव देखता है। सबके हित में ही स्वयं के हित को देखना सही दृष्टिकोण है। भगवान महावीर के समय तक वनस्पतिकाय की हिंसा न करना भूत-दया का अंग था। आज विज्ञान के माध्यम से हम जानते हैं कि वनस्पति को नष्ट न करके हम वनस्पति पर नहीं, स्वयं अपने पर ही कृपा करते हैं। गहरे आध्यात्मिक अर्थों में किसी का भी अहित करके हम अपना ही अहित करते हैं। विश्व शान्ति के प्रसंग में कोई राष्ट्र दूसरे को पराजयी बनाकर अपना ही अहित करता है। अतीत इसका साक्षी है और इस बात की प्रेरणा देता है कि भविष्य में युद्ध या शस्त्र प्रयोग न करने का संकल्प लिया जाए। हिरोशिमा व नागासाकी की विभीषिका व ईराक–ईरान युद्धों के अनुभवों के बावजूद आज भी प्रमत्त मानव दूसरों के अधिकारों के हनन करने में लगे हैं, ऐसे ही व्यक्ति शस्त्र प्रयोग करते हैं।

निः शस्त्रीकरण के आधार

विजातियों के प्रति प्रेम–आयारो के 'शस्त्र–परीज्ञा' अध्ययन में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि स्थावरों के लिए अहिंसा का प्रतिपादन त्रस–जीवों से पहले किया गया है। स्थावरों में भी वनस्पतिकाय से पहले पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु-काय के प्रति अहिंसा का प्रतिपादन है। इस क्रम में भी एक गहरा रहस्य है–त्रस–जीव के लक्षण हमारे अधिक निकट हैं, इसलिए उनके प्रति अहिंसा का भाव सहज उत्पन्न होता है। स्थावर हमारे विजातीय हैं, इसलिए उनके प्रति अहिंसा की भावना उत्पन्न होने की संभावना कम है। अहिंसा का मूल है–हम विजातीय के प्रति भी अहिंसक हों। यही निःशस्त्रीकरण का एक प्रमुख आधार भी है। आज जहां अहिंसा की चर्चा होती है, वहां सजातीयों के प्रति विशेष पक्षपात रहता है। यही कारण है कि अनेक सैनिक और गैर–सैनिक संघों एवं गुटों का निर्माण हुआ है। ये सभी संगठन सजातीयों के प्रति अनुराग व विजातीयों के प्रति द्वेष के परिणाम थे।

सर्व-जीव समानता—भगवान महावीर ने निःशस्त्रीकरण का आधार प्रस्तुत करते हुए कहा सब जीव समान हैं। जीवों के शरीर भले ही छोटे-बड़े हों, आत्मा सबमें समान है। ज्ञान-शक्ति सब जीवों में समान है, भले ही ज्ञान का विकास सब जीवों में समान न हो। आत्मवीर्य या सामर्थ्य वीर्य की दृष्टि से कोई न्यूनाधिक नहीं होता। अतः सजीतीय-विजातीय, रंग-भेद, जीवन-स्तर, विचार धारा आदि के आधार पर भेद-भाव न रखकर प्राणी-मात्र के प्रति मैत्री-भाव निःशस्त्रीकरण या विश्व-शान्ति का आधार बन सकता है। प्राणि मात्र को जीवन प्रिय है। सूक्ष्म जीव भी अपने प्राण लूटने की स्वीकृति कब देते हैं? जो व्यक्ति बलात् उनके प्राण लूटते हैं, वे उनकी चोरी करते हैं।

निःशस्त्रीकरण का अधिकारी

आयारो में आत्मवादी को निःशस्त्रीकरण का अधिकारी माना गया है। अनात्मवादी निःशस्त्रीकरण नहीं कर सकता। भगवान महावीर ने जिस अहिंसात्मक आचार का निरुपण किया, उसका आधार आत्मा है। आत्मा का स्पष्ट बोध होने पर ही अहिंसात्मक आचार में आस्था हो सकती है।

निःशस्त्र कौन हो सकते हैं?

जो अपना दुःख जानता है, वही दूसरों का दुःख जान सकता है। जो दूसरों का दुःख जानता है, वही अपना दुःख जान सकता है। आत्मतुला की यथार्थ अनुभूति हुए बिना निःशस्त्रीकरण का अधिकार नहीं मिल सकता। आत्मवाद की ऐसी व्याख्या भगवान महावीर को आधुनिक मानवतावाद के निकट ला देती है। भगवान महावीर ने निःशस्त्रीकरण का एक महत्वपूर्ण सूत्र दिया—जो दूसरे के अस्तित्व को नकारता है वह स्वयं अपने ही अस्तित्व को नकारता है। शस्त्रीकरण के मार्ग पर चलने वाला दूसरे की अवहेलना कर आत्म-तत्त्व की ही अवहेलना करता है। अतः निःशस्त्र वे ही हो सकते हैं जिन्हें सभी प्राणी आत्मवत् लगें। महावीर ने कहा—"पुरुष! जिसे तू हनन करने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है।" जो व्यक्ति क्रिया की प्रतिक्रिया देख लेता है, वह किसी को भी मारना या अधीन करना नहीं चाहता।

शस्त्रीकरण से वे ही बच सकते हैं जो अतीत के अनुभवों के आधार पर शस्त्र प्रयोग में अपना अहित देख लेते हैं। जो दूसरों के भय, आशंका, लज्जा, दबाव या प्रलोभन से शस्त्रीकरण नहीं करते वे समय आने पर

शस्त्रीकरण से बच नहीं सकते। समता का आचरण व सबकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करने वाले ही निःशस्त्रीकरण के उपासक हो सकते हैं। किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन करने वाले, उन पर शासन करने वाले, उन्हें दास बनाने वाले, उन्हें परिताप देने वाले, उनका प्राण वियोजन करने वाले अहिंसक और निःशस्त्र नहीं हो सकते।

निःशस्त्र ही अभय हो सकते हैं

भगवान महावीर निःशस्त्रीकरण का संबंध वीरता से जोड़ते हैं। "पणया वीरा महावीहिं"—यह उक्ति हमें महात्मा गांधी का स्मरण कराती है जो मानते थे—कायर कभी अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। निःशस्त्रीकरण सभी को अभय प्रदान कर सकता है जबकि शस्त्रीकरण का मूल भय है।

शस्त्र के द्वारा झुकाना प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देना है। जिस विजय के लिए शस्त्र बनाने व चलाने पड़े, वह प्रतिस्पर्धा का स्थान है। जो सशस्त्र है वह सभय है, पराजित है। जो अशस्त्र है—वह अभय है, विजयी है। शस्त्र प्रतिस्पर्धा लाता है। एक शस्त्र को व्यर्थ करने के लिए दूसरा, दूसरे को व्यर्थ करने के लिए तीसरा, यह क्रम आगे से आगे बढ़ता है। अशस्त्र में स्पर्धा नहीं होती।

सभ्य जीवन की यह विडम्बना है—हम युद्ध तो नहीं चाहते किन्तु भोग-विलास की निन्दा करने से हिचकिचाते हैं, शस्त्र त्याग नहीं चाहते। शांति के प्रयत्न करने वाले सभी संगठनों के लिए भगवान महावीर का यह संदेश है—यदि शांति चाहते हैं तो सुख की आशा छोड़ें। यह सत्य है—सुख की आसक्ति हम पूर्णतः नहीं छोड़ सकते किन्तु यह भी सत्य है—सभी अपनी इच्छाओं पर नियमन तो कर ही सकते हैं। हम सभी प्रकार की हिंसा नहीं छोड़ सकते पर निरर्थक हिंसा तो छोड़ ही सकते हैं।

संयुक्त राष्ट्र की विश्वशांति में भूमिका

संयुक्त राष्ट्रसंघ जिसका जन्म अराजकता और युद्ध की विभीषिका के बीच हुआ और जिसका लालन–पोषण उपद्रवों व परमाणु विस्फोट के युग में हुआ, अपने 50 वर्ष पूरे करने को आया है। इतने दीर्घ काल तक अस्तित्व में बना रहना इसकी अन्तर्निहित शक्ति व शांति के लिए विश्वव्यापी अभिलाषा का द्योतक है। इसने न केवल सुरक्षा एवं विश्वशांति सम्बन्धी कार्य किये हैं बल्कि अनगिनत अभागों के लिए कल्याण के कार्य भी किये हैं।

यद्यपि यह सही है कि इसे राजनीतिक विवादों के सामधान में कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली है पर यह कम महत्वपूर्ण नहीं है कि ऐसे विवादों के समाधान में यदि संयुक्त राष्ट्र का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हिस्सा न लिया होता तो ये विवाद इतने गम्भीर हो सकते थे कि विश्वशांति को खतरा हो सकता था।

संयुक्त राष्ट्र की विश्वशांति के लिए व्यवस्था

चार्टर की वर्तमान व्यवस्था के अनुसार संयुक्त राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा कायम रखने के लिए मुख्यतः दो विधियाँ अथवा प्रक्रियाएं काम में लाता है–

1. शांतिपूर्ण समाधान की प्रक्रियाएं
2. प्रतिरोधात्मक अथवा बाध्यकारी प्रक्रियाएं।

शांतिपूर्ण समाधान की प्रक्रिया में संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 33 में यह व्यवस्था है कि यदि किसी विवाद से विश्वशांति व सुरक्षा को खतरा पैदा हो जाए और सम्बन्धित पक्ष झगड़ा निपटाने में असफल रहे तो सुरक्षा परिषद विवादी से वार्ता, जांच मध्यस्थता, पंचनिर्णय, संसाधन, समझौते आदि द्वारा विवाद निपटाने का प्रयत्न करती है।

प्रतिरोधात्मक एवं बाध्यकारी प्रक्रिया में विश्वशांति भंग होने की स्थिति में संयुक्त राष्ट्र बल प्रयोग अथवा प्रतिरोधात्मक उपायों का आश्रय भी लेती है।

संयुक्त राष्ट्र की विश्वशांति सम्बन्धी भूमिका

संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक समस्याओं का समाधान करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को प्रोत्साहन देना है। अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए उसके महत्वपूर्ण प्रयास रूस–ईरान विवाद 1946-47, यूनान विवाद 1946-47, बर्लिन समस्या,.कोरिया संकट, फिलिस्तीन विभाजन की समस्या, कश्मीर समस्या, स्वेज नहर विवाद, कांगो समस्या, अरब इजरायल संघर्ष 1956 व 1973, भारत–पाक संघर्ष 1965 व 1971, ईराक–ईरान युद्ध के समय देखने में आये। इन विवादों में कोरिया संकट, स्वेज नहर विवाद आदि ऐसे विवाद थे जिनमें संयुक्त राष्ट्र संघ का हस्तक्षेप व प्रयास न होते तो संभवतः ये विवाद विश्वयुद्ध का रूप ले लेते। कोरिया संकट में तो संयुक्त राष्ट्र संघ ने प्रथम बार सैनिक शक्ति का भी प्रयोग किया।

खाड़ी युद्ध में बहुराष्ट्रीय सेनाओं को ईराक द्वारा कुवैत में की गई मनमानी को रोकने में भी संयुक्त राष्ट्र संघ सफल रहा तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में ईराकी परमाणु ठिकानों का निरीक्षण भी सम्भव हुआ। यद्यपि इसके पीछे अमरीका न होता तो सम्भवतः संयुक्त राष्ट्र संघ ऐसा करवाने में असफल रहता।

यद्यपि कश्मीर का प्रश्न, वियतनाम का संघर्ष, निशस्त्रीकरण, परमाणु अस्त्रों पर प्रतिबन्ध आदि के स्थायी समाधान में संयुक्त राष्ट्र संघ असफल रहा है लेकिन फिर भी कुछ विवादों को अधिक विस्फोटक बनने से रोकने की दिशा में संघ के प्रयास उल्लेखनीय रहे हैं तथा प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप में इसने शांति स्थापना के अनेक सफल प्रयत्न किये हैं।

निशस्त्रीकरण के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र के प्रयास

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने प्रारम्भ से ही निशस्त्रीकरण की समस्या पर ध्यान देना शुरू किया। निशस्त्रीकरण व परमाणु शक्ति पर नियन्त्रण की दृष्टि से 1946 में संघ द्वारा अणु शक्ति आयोग (Atomic Energy Commission) की स्थापना की तथा परम्परागत शस्त्रों को सीमित करने की दृष्टि से परम्परागत शस्त्र आयोग (The Commission for Conventional Armaments) गठित किया। 1956 में जेनेवा सम्मेलन (1955 से 1960) के प्रयासों के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघीय निशस्त्रीकरण आयोग की बैठक में निशस्त्रीकरण के मुद्दे

को महत्त्वपूर्ण माना गया।

1961 में महासभा ने परमाणु परीक्षण को बंद रखने का आग्रह किया तथा 1963 में परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि सम्पन्न हुई। निशस्त्रीकरण के क्षेत्र में एक आंशिक सफलता तब मिली, जब रूस व अमेरिका के बीच 1968 में परमाणु अस्त्र प्रसार निरोध संधि सम्पन्न हुई। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1970 से 1980 तक के दशक को निशस्त्रीकरण दशक घोषित किया एवं विभिन्न राष्ट्रों को परमाणु अस्त्रों की होड़ को छोड़ने के लिए कारगर कदम उठाने की बात कही तथा 1972 में परमाणु परिसीमन संधि (साल्ट–1) हुई। 1978 में जेनेवा में निशस्त्रीकरण सम्मेलन हुआ जिसमें परमाणु अस्त्रों के उत्पादन को समाप्त करने तथा शस्त्रीकरण पर हो रहे खर्च को कम करने की बात कही गई। 1979 में साल्ट-2 पर हस्ताक्षर हुए। 1982 में सोवियत संघ ने परमाणु अस्त्रों के प्रसार पर रोक की एकतरफा घोषणा की तथा 1982 में उसने संघ में यह घोषणा की कि वह परमाणु शक्ति का प्रयोग करने वाला प्रथम राष्ट्र कदापि नहीं होगा। इसी वर्ष निशस्त्रीकरण पर दूसरा विशेष अधिवेशन भी सम्पन्न हुआ।

संयुक्त राष्ट्र संघ के ये प्रयास आज तक चल रहे हैं यद्यपि कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल पाई है। सोवियत संघ के विघटन के बाद अमरीका व रूस के बीच हुए 1993 में निशस्त्रीकरण के कुछ समझौते आशा की किरण है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ और मानवाधिकार

संयुक्त राष्ट्र संघ ने विश्वशांति की दृष्टि से मानवाधिकारों के संरक्षण पर पर्याप्त बल दिया है। रंग-भेद के कारण हो रहे बर्बरतापूर्ण कृत्यों को रोकने में उसके प्रयासों को भुलाया नहीं जा सकता। दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार के विरुद्ध लगाये गये प्रतिबन्ध इसी के प्रयासों का फल था, जिसका सुपरिणाम अब सामने आ रहा है कि दक्षिण अफ्रीका में लोकतांत्रिक आधार पर रंग भेद के बिना अप्रैल–मई, 94 में चुनाव सम्पन्न हुए हैं। 10 दिसम्बर मानवाधिकार दिवस इसी के सुप्रयासों का फल है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में किये गये विश्वशांति के प्रयास

संयुक्त राष्ट्र संघ का यह विश्वास है—युद्ध पहले मानव मस्तिष्क में

पैदा होते हैं, अतएव युद्धों को तभी रोका जा सकता है जब सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक स्थितियों को बदला जाय। 1970 के दशक को विकास का दशक घोषित किया गया। इस काल में सदस्य राष्ट्रों से गरीबी, भुखमरी, अज्ञानता, कुपोषण व रोगों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने की बात कही गई।

सामाजिक समस्याओं के निदान ढूंढने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन हुआ, जैसे 1966 में World Land Reform conforence, 1970 में Un Conference on the treatment of offenders तथा 1974 में Third World Population Concerence आदि–आदि का आयोजन। 1975 को International Women's years घोषित किया गया। आर्थिक विकास की दृष्टि से ILO, World Bank, IMF आदि की स्थापना तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में UNESCO, CWF आदि की स्थापना विश्वशांति की दिशा में सफल कदम है क्योंकि अशांति सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक असमानताओं व विभिन्नताओं के कारण भी होती है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद के उन्मूलन में भी सफलता पाई है। साम्राज्यवाद के चंगुल में फंसे लिबिया, ट्यूनिसिया, अल्जीरिया, टोबोलैण्ड आदि को स्वतंत्र राष्ट्र का दर्जा मिल चुका है।

यद्यपि विश्वशांति के क्षेत्र में आंशिक सफलता ही प्राप्त कर पाने के बावजूद आज विश्वशांति की दृष्टि से यू.एन.ओ. का स्थान कोई दूसरी संस्था ले पाने में सक्षम नहीं है। इसकी सफलता का एक आधार तो यही है कि इसकी स्थापना के बाद से आज तक कोई बड़ा युद्ध नहीं हो पाया है। यद्यपि यू.एन.ओ. में कुछ बड़े राष्ट्रों का प्रभुत्त्व है, यदि उसे कम कर सुरक्षा परिषद व महासभा को और अधिक सक्षम बना दिया जाए तो इससे विश्वशांति के क्षेत्र में उल्लेखनीय सफलता मिल सकती है।